पञ्चास्तिकाय प्रवचन

षष्टम भाग

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी ''सहजानन्द'' महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर,इन्दौर

Online Version : 001

प्रकाशकीय

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्य वर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरूतर कार्य किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक **'पञ्चास्तिकाय प्रवचन षष्टम भाग'** अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यवहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है। इसमें पञ्चास्तिकाय प्रवचन कि गाथा १५४ से गाथा १७३ तक प्रवचन संकलित हैं।

ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को http://www.sahjanandvarnishastra.org/ वेबसाइड पर रखा गया है। यदि कोई महानुभाव इस ग्रन्थ को पुन: प्रकाशित कराना चाहता है, तो वह यह कंप्यूटर कॉपी प्राप्त करने हेतु संपर्क करे । इसी ग्रन्थ की PDF फाइल http://is.gd/varniji पर प्राप्त की जा सकती है।

इस कार्य को सम्पादित करने में **श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर** इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु श्री **संजयजी शाह, सीएटल, अमेरिका** के द्वारा रु. 2000/- प्राप्त हुए, तदर्थ हम इनके आभारी हैं। ग्रन्थ के टंकण कार्य में **श्रीमती मनोरमाजी, गांधीनगर** एवं प्रूफिंग करने हेतु **श्रीमती मनोरमाजी जैन, गांधीनगर** का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं।

सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छाबड़ा

53, मल्हारगंज मेनरोड़

इन्दौर (म०प्र०)

Phone-0731-2410880, 9753414796

Email-vikasnd@gmail.com

www.jainkosh.org

शान्तमूर्तिन्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी''सहजानन्द'' महाराज द्वारा रचित

आत्मकीर्तन

हूँ स्वतंत्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता दृष्टा आतमराम।।टेक।।
मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान।।
मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान।।
सुख दुःख दाता कोई न आन, मोह राग रूष दुःख की खान।
निज को निज पर को पर जान, फिर दुःख का नहीं लेश निदान।।
जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुँचू निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम।।
होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम।।
अहिंसा परमोधर्म

आत्म रमण

मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँ, मैं सहजानन्दस्वरूपी हूँ।।टेक।।
हूँ ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूँ सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण।
हूँ सत्य सहज आनन्दधाम, मैं दर्शन० ,मैं सहजानंद०।।१।।
हूँ खुद का ही कर्ता भोक्ता, पर में मेरा कुछ काम नहीं।
पर का न प्रवेश न कार्य यहाँ, मैं दर्शन० ,मैं सहजा०।।२।।
आऊं उतरूं रम लूं निज में, निज की निज में दुविधा ही क्या।
निज अनुभव रस से सहज तृप्त, मैं दर्शन० ,मैं सहजा०।।३।।

Contents

प्रकाशकीय..2

आत्मकीर्तन..3

आत्म रमण 3

गाथा 154 5

गाथा 155 7

गाथा 156 9

गाथा 157 11

गाथा 158 13

गाथा 159 16

गाथा 160 18

गाथा 161 22

गाथा 162 24

गाथा 163 27

गाथा 164 32

गाथा 165 34

गाथा 166 36

गाथा 167 40

गाथा 168 42

गाथा 169 45

गाथा 170 47

गाथा 171 53

गाथा 172 58

गाथा 173 89

पञ्चास्तिकाय प्रवचन षष्ठ भाग

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी [''सहजानन्द'' महाराज]

इंदसदवंदिणाणं तिदुवणहिदमधुरविसदवक्काणं ।
अंतातीदगुणाणं णमो जिणाणं जिदभवाणं ।।

गाथा 154

जीवसहावं णाणं अप्पडिहददंसणं अणण्णमयं ।
चरियं च तेसु णियदं अत्थित्तमणिंदियं भणियं ।।१५४।।

नव पदार्थाधिकार के वर्णन के पश्चात् अब मोक्षपद्धति, मोक्षस्वरूप निश्चयमोक्षमार्ग, व्यवहारमोक्षमार्ग आदि के वर्णन के द्वारा मोक्षमार्ग के विस्तार करने वाली चूलिका कही जा रही है ।

मोक्षमार्ग और मोक्ष—अप्रतिहत ज्ञान और अप्रतिहत दर्शन तो जीव का स्वभाव है और वह जीव से अभिन्न है, और उस स्वभाव में नियत हो जाना यह चारित्र है । इस प्रकार दर्शन, ज्ञान और चारित्र मोक्ष का मार्ग है । इन सबको एक शब्द में कहा तो यों कह लीजिए कि जीव के स्वभाव में नियत रहने का नाम है मोक्षमार्ग । जीव का स्वभाव प्रतिभास है । अपने आप में अन्त:दृष्टि करके देखो कि वह मैं क्या हूँ, जो कुछ समझता हूँ, जानता हूँ, चाहता हूं? अन्त:दृष्टि करके देखो तो ऐसा समझने वाला कोई पदार्थ अतिसूक्ष्म विदित होगा । पत्थर, ढेला, हड्डी, मांस की तरह पिण्डरूप पदार्थ नहीं है वह जो कि जाननहार है । जगत के अन्य सब पदार्थों से विलक्षण केवल जानन-देखनहार अमूर्त पदार्थ यह मैं आत्मपदार्थ हूँ । मेरा स्वभाव तो, जिस स्वरूप से इसका सत्त्व बना हुआ है वह स्वरूप है ज्ञान और दर्शन, जानन और देखन प्रतिभास । यह जीव अपने इस विशुद्ध प्रतिभास में रहा करे, यही है मोक्षमार्ग । और इस प्रतिभास का फिर पूर्ण विकास हो जाय, ज्ञप्तिपरिवर्तन भी न रहे, उसका नाम है मोक्ष।

स्वभाव का आलम्बन—यह ज्ञानदर्शन स्वभाव जीव से अभिन्न है । यह तो जीव का स्वरूप, विशेष और सामान्य चैतन्यस्वभाव है । प्रतिभास में जो विशेष तत्त्व है वह तो है ज्ञान और प्रतिभास में जो सामान्यतत्त्व है वह है दर्शन । ये दोनों जीव के स्वरूपभूत हैं । उनमें नियत होना, अवस्थित होना अर्थात् अगुरुलघुत्व गुण के कारण इस ही स्वभाव में उत्पादव्ययध्रौव्यरूप रहकर इस केवल का निरपेक्ष अस्तित्व बना रहना—यही है मोक्ष का मार्ग । यहाँ रागादिक परिणतियाँ नहीं हैं, इसी कारण यह भाव सर्वोत्कृष्ट है । यहाँ मोक्षमार्ग को व संसारमार्ग को इन शब्दों में जानना कि स्वभाव में चलना सो तो मोक्षमार्ग हैं और परभाव में चलना सो है संसारमार्ग ।

द्विविध चरित्र—संसारी जीवों में दो प्रकार का चरित्र है । एक तो स्वचरित्र और एक परचरित्र । स्वभाव में अवस्थित अस्तित्व का नाम है स्वचरित्र और परभाव में अवस्थित स्वरूप का नाम है परचरित्र । स्वचरित्र तो उत्कृष्ट भाव है और परचरित्र जघन्य भाव है । अपने ही स्वभाव में उपयोग का स्थिर होना, परभाव से उपयोग का निवृत्त होना, यही है मोक्षमार्ग और आत्मा का परम पुरुषार्थ । जीव का स्वभाव ज्ञान और दर्शन है । इस ज्ञान और दर्शन में शक्ति की दृष्टि से इसे देखा जाय तो इन्हीं को ही केवलज्ञान और केवलदर्शन कह लीजिए । समस्त वस्तुवों में

अवस्थित अनन्त धर्म को एक साथ जानने में समर्थ केवलज्ञान है । यह आत्मा का गुण आत्मा से अनन्य है । इतना भी कहना कि ज्ञान और दर्शन आत्मा का गुण है, यह भी आत्मा का तोड़-मरोड़ किया जाता है और यह भी सम्यग्ज्ञान की उत्कृष्ट दृष्टि में शोभा की बात नहीं है । उसे समझ भर लीजिए, यह ही ठीक कदम है, पर जो है उसका यों भेदकरना, यह ज्ञान है, दर्शन है, यह आत्मा का गुण है, ऐसा कहने पर अनुभूति में जो बात आयी थी वह बात नहीं रही ।

गुणी में गुणों की अभिन्नता—सहज शुद्ध सामान्य विशेष चैतन्यस्वरूप जीवास्तिकाय से ये ज्ञान दर्शन गुण भिन्न नही हैं । केवल नाम से भिन्न हैं, लक्षण से भिन्न हैं, प्रयोजन से भिन्न हैं, किन्तु द्रव्य वही है, क्षेत्र वही है, काल, वही है, भाव वही है—परमार्थ । ज्ञानदर्शनस्वरूप में और आत्मा में भेद नहीं है । यह भेदकथन जीव को इस निगाह तक भी दूर फेंक सकता है, जैसे कहा करते हैं कि घड़े में दही है, डिब्बा में दही है, तो जैसे यहाँ दो भिन्न-भिन्न चीजें हैं, डिब्बा अलग है, घी अलग है और फिर उसका आधार बताया । ऐसा तो आत्मा में और ज्ञान में नहीं है कि आत्मा कोई वस्तु है और उसमें फिर ज्ञान है । यदि ज्ञान अलग चीज है तो ज्ञानरहित आत्मा क्या है और आधारभूत आत्मा के बिना ज्ञान क्या? दोनों का अभाव हो जाता हे ।

गुणी से गुणों को भिन्न मानने पर आपत्ति—जैसे लोकव्यवहार में कहते हैं कि भगोने में पानी भरा है, तो भगोने और पानी ये अलग-अलग चीजें हो गयीं । भगोना अलग है पानी अलग है और वह पानी भगोने में है, इस तरह यदि यों माना जाय कि आग में गर्मी है, भगोने की तरह आग कोई स्वतंत्र हो और जल की तरह गर्मी कुछ अलग बात हो और फिर आग गर्मी में धरी हो, क्या ऐसा है? यदि यों भिन्न-भिन्न हों तो यहाँ बतावो कि गर्मी तो अलग है, आग अलग है, तो गर्मी बिना आग क्या और आग बिना गर्मी रहे कहाँ? दोनों का अभाव हो जायगा । इसी प्रकार आत्मा में ज्ञान है, इसे अगर भिन्न रूप से देखें जैसे कि कहने में भेद कर दिया जाय तो दोनों का अभाव हो जायगा ।

स्वचरित्रता में मोक्षमार्ग—यह चैतन्यस्वरूप इस चेतन से अभिन्न है, यह चेतन चैतन्यात्मक ही है, ऐसे जीव के स्वभाव में नियत हो जाना, अवस्थित हो जाना इसका नाम चरित्र हैं और यही चरित्र मोक्षमार्ग है । कहा भी है कि स्वरूप में चलना सो चरित्र है । चरित्र ही धर्म है, और धर्म नहीं है जहाँ समतापरिणाम हो, शान्ति हो । और समता शान्ति वहीं है जहाँ मोह और क्षोभ से रहित परिणाम हो । यह तो स्वचरित्र की बात कही । अब संसारी जीवों में परचरित की बात देखो । स्वतंत्र स्वभाव के अनुरूप जो आचरण नही, है । परपदार्थों को उपयोग में लाकर इष्ट काम भोगों में ही स्मरण चल रहा हो अर्थात् अपध्यान चल रहा हो, अमुक पदार्थ इष्ट है, अमुक चीज मुझे मिले, अमुक पदार्थ अनिष्ट है मुझ से दूर रहे, अमुक का नाश हो । किसी भी प्रकार मोह रागद्वेषरूप परिणति से परपदार्थों में यह उपयोग करे तो वह है परचरित, परभाव परिणमन । यह संसारमार्ग है ।

स्वोन्मुखी व परोन्मुखी वृति का परिणाम—यह जीव जन्म लेता है, मरता है, नये-नये शरीर ग्रहण करता चला आ रहा है । रागी द्वेषी दुःखी जो भव-भव से इस प्रकार चला आ रहा है वह सब परभाव परिणमन का परिणाम है । परचरित की दशा अत्यन्त जुदी है और स्वचरित की दशा अलग है । स्वचरित में झुकाव स्व का और परचरित

में झुकाव पर का है । देखिये आत्मा सिवाय एक इतनी कला के और कर ही क्या रहा है? यह उपयोगस्वरूप है, जाननहार है, जानता है, पर जानने की पद्धति जहाँ परोन्मुखी हो गयी, संसार की विडम्बना बढ़ती जाती है । जानन की पद्धति जहाँ स्वोन्मुखी हो गयी बस वहाँ इसका मोक्षमार्ग बन जाता है ।

संकटमुक्ति के लिये कर्तव्य—भैया ! जिन जीवों को यह पता नहीं है कि संसार के संकटों से छूटने का उपाय यह स्वाधीन आत्मोपयोग है वे जीव असार संसार के कारणभूत मिथ्यात्व रागादिक मे ही लीन रहा करते हैं । अहो, इन रागादिक भावों में लीन होते हुए इन जीवों का अनन्त काल व्यतीत हुआ है । इस प्रकार समय बिताने में इन जीवों को कोई लाभ नहीं हे । हरदम, हर जगह असन्तोष, चिन्ता शोक अभिमान कषाय सभी उपद्रव इसे परेशान कर रहे हैं । संसार से छुटकारा पाने में ही लाभ है । संसार से छुटकारा कैसे हो, उसके उपाय में जो पहिले कुछ वर्णन किया है उसके ही विस्ताररूप यह अधिकार चल रहा है । हमारा कर्तव्य है कि जो समस्त परपदार्थों से छूटा ही हुआ है ऐसे इस निज अंतस्तत्त्व की भावना करें, इस भावना के प्रसाद से ये कर्मबन्धन तथा शरीरबन्धन स्वयं दूर हो जायेंगे ।

गाथा 155

जीवो सहावणियदो अणियदगुणपज्जओध परसमओ ।
जदि कुणदि सगं समयं पब्भस्सदि कम्मबंधादो ।।१५५।।

परसमय की विडम्बना—जीव यद्यपि निश्चय से अपने स्वभाव में नियत है, फिर भी अनियत गुणपर्यायों सहित होता हुआ यह परसमय हो जाता है । अन्त: स्वभावदृष्टि करें तो जीव कब पर में स्थित है? शरीर और यह जीव इस समय भी एक क्षेत्रावगाह है, और बंधन भी बन रहा है, लेकिन जीव के सत्त्व को देखो तो यह जीव शरीर में कहां मौजूद है? शरीर में शरीर है, और जीव में जीव है । किन्तु ऐसा मान तो नहीं रहा यह मोही प्राणी और जब यथार्थ रूप में अपने को नहीं मान रहा है तो उपयोग का बन्धन तो तत्काल ही है । और जीव में ऐसा विभावपरिणमन हुआ कि इस तरह के परभाव बन्धन का निमित्त पाकर यहाँ शरीर कर्मबन्धन विडम्बित यों हो जाता है ।

एकस्वरूप का द्विविध परिणमन—शुद्ध निश्चय से तो यह जीव विशुद्ध ज्ञानदर्शनस्वभावी है, स्वभाव में नियत है, लेकिन मोहनीय कर्मों के उदयवश से जिसकी परम्परा अनादिकाल से चली आ रही है, मोहादिक परिणामों में ही इस जीव की अनुवृत्ति हो रही है । बार-बार लगना, सम्बंध रखना, लगाव रखना ऐसी अनुवृत्ति इस जीव में अनादिकाल से चली आ रही है, जो कि वृत्ति इसके स्वभाव से विरुद्ध है । स्वभाववृत्ति तो ऐसी थी कि मोहरहित शुद्धज्ञान दर्शनरूप आत्मा की प्राप्ति करना, लेकिन कर रहा है यह मोहादिक विकारों की प्राप्ति को । सो नाना मतिज्ञानादिक विभाव गुणपर्यायों में और मनुष्य नारकी तिर्यञ्च देव जैसी पर्यायों में यह-यह परिणमकर परसमय बन रहा है । यही है संसारी जीव की वर्तमान परिस्थिति, किन्तु जब यह जीव निर्मल विवेक ज्ञान भेदविज्ञान को उत्पन्न करने वाली अथवा निर्मल परमार्थ ज्योति को उत्पन्न करने वाली जब अपनी परम कला का अनुभव कर लेता है, केवल अपने आप अपने सत्त्व से जो कुछ मुझे में है उस अंतस्तत्त्व का अनुभव करता है तब जानता

है—ओह ! यह मैं हूँ शुद्ध एक चैतन्यस्वभाव । अब यह ऐसे ही आत्मा का बार-बार अनुभव करता है उससमय यह जीव स्वसमय बनता है, स्वचरित बनता है । तब ऐसा आचरण करने वाला जीव कर्मबन्ध से नियम से मुक्त हो जायगा।

आत्मप्रतीति का प्रकाश—भैया ! एक सीधीसी बात यहाँ यह जान लेना कि जैसे लोग अपने आपके बारे में अधिकाधिक ऐसा अनुभव करते हैं कि मैं, अमुक चंद हूँ, अमुक प्रसाद हूँ, अमुक वर्ण का, जाति का हूँ, अमुक गाँव का हूँ, अमुक का पिता हूँ, बेटा हूँ आदिक रूप से अपने आप में कुछ अनुभव लगाया करता है । ये सारे अनुभव संसार बढ़ाने के कारण हैं, जन्ममरण की परम्परा के कारण हैं जीव के अहितरूप हैं । इन कल्पनाओं में आप केवल अपने भाव ही तो बना रहे हो । तो विरुद्ध भाव न बनाकर एक परमार्थ भाव बनायें तो इसमें जीव का हित है । किस प्रकार का परमार्थ भाव? लो यह मैं समस्त पदार्थों से न्यारा केवल एक ज्योतिस्वरूप हूँ । ऐसी दृष्टि दे तो कुछ लगता भी ऐसा है कि भीतर में कुछ विलक्षण प्रकाश पड़ा हुआ है, जो प्रकाश इन दीपक, रत्न, सूर्य, चन्द्र आदि जैसा तो नहीं है, किन्तु इससे भी विलक्षण है, जिस 'प्रकाश में ये सब प्रकाश भी समा जाते हैं, ऐसा अलौकिक ज्ञानप्रकाश मुझ में है, जिस प्रकाश बिना सूर्य चन्द्र के प्रकाश भी फीके हैं, अस्तित्व ही नहीं पाते हैं, जिस प्रकाश के कारण सूर्य चन्द्र भी सत् विदित होते हैं और कुछ शुद्ध विश्राम के साथ अपने आप में अपने आपको जब लखते हैं तो यह निर्भार सूक्ष्म अमूर्त न्यारा आनन्दस्वरूप प्रतिभास अपने को विदित होता है । उसका गुण नियत है, उसका यह अन्तर्वृत्ति परिणमन नियत है । यह ऐसा ही है, इसमें विभिन्नताएँ नहीं हैं, ऐसे नियत गुणपर्याय वाले जीवस्वभाव में अवस्थित होना इसका नाम है स्वसमय ।

आत्मा का बड़प्पन—स्वचरित्र ही मुक्ति का मार्ग है । लोग अपना बड़प्पन समझते हैं बहुत से महल बन जायें, बड़ा वैभव इकट्ठा हो जाय, बहुतसी रकम जमा हो जाय; समाज में, बिरादरी में, देश में लोग हमारी पूछ करने लगें, नाम लेने लगे, इन बातों में अपनी उत्कृष्टता जानते हैं, लेकिन ये सबकी सब बातें तो मोह की नींद के स्वप्न हैं । जैसे स्वप्न की बात ठहरती नहीं है, आंखें खुल जाने पर तो कुछ भी नहीं रहता है, ऐसे ही ये सारी कल्पनाएँ परवस्तुवों के संचय के कारण अपने आपको बड़ा मानने की कल्पनाएँ ये सब असार हैं, और जब जान जगता है, यथार्थ बात समझ में आती है तब ये चीजें कुछ ठहरती नहीं हैं । यहाँ कुछ है ही नहीं । उनसे बड़प्पन मत मानो । अपना महत्त्व मत इन बातों में मानिये । दुनिया जाने अथवा न जाने, यह पर का ढेर इकट्ठा हो अथवा न हो, किन्तु यह मैं अपने आपके इस सहज ज्ञानानन्दस्वभाव को पहिचान लूँ और अपना लगाव इस स्वभाव में ही रक्खू, ऐसा कर सका तो इससे बढ़कर काम लोक में कुछ भी नहीं है ।

व्यर्थ विकल्प—मान लो आपके यहाँ दो चार लाख का वैभव पड़ा हुआ है तो आप इतना ही अपना क्यों समझते हैं? तीनों लोक में जितने भी ढेर पड़े हुए हैं उन सबको अपना समझ लो ना । मानने में फिर क्यों कंजूसी करते? जब मानने की हठ ही कर रहे हो । आप कहोगे वाह ! कैसे अपना मान लें । तीनों लोक का वैभव मेरे साथ तो नहीं है । अरे तो जो दो-चार लाख का धन आपके घर में है वह भी तो आपके साथ नहीं है । आप जहाँ मरे तहाँ यह दो-चार लाख का भी धन छूट जायगा और यह तीनों लोकों का भी सारा धन आप से छूट जायगा ।

आप से छूटा हुआ तो अब भी है जब तक आप इस भव में भी जीवित हैं । इस वैभव से आत्महित की बात न मिलेगी । अपने आत्मस्वभाव में नियत होने का यत्न करें ।

स्वहित की दिशा—भैया ! किसी ने कुछ कह दिया तो क्या हो गया? उसका परिणमन उसमें है । कोई प्रशंसा कर दे तो उससे यहाँ क्या लाभ है? कोई निन्दा कर दे? तो उससे यहाँ क्या हानि है? लेकिन एक बात ध्यान में रखिये—हम यदि किसी का अपमान कर दें, निन्दा कर दें तो उसमें हमारी हानि है । दूसरा कोई पुरुष मेरा अपमान करे तो उससे मेरा कोई बिगाड़ नहीं है । अपना ज्ञानबल बढ़ाये और सत्य बल समझे । धीरता रक्खे, क्षोभ होने ही न दें तो उससे क्या बिगाड़ होता है? हम किसी दूसरे का अपमान कर दे, निन्दा कर दें तो उससे हमारा बिगाड़ इस ही भव में हो चुका । इन परपदार्थों के परिणमन से अपना कुछ भी हित न माने । अपने आपका स्वरूप अपने आपकी निगाह में रहे और उसकी ओर ही लगाव रहे तो ऐसे पुरुषार्थ में ही अपना हित है, यही वास्तविक धर्मपालन है, यही मोक्षमार्ग है, यही विवेक है, यही समझदारी है, और इस दुर्लभ नरजीवन को सफल बनाने का यही एकमात्र सही उपाय है ।

गाथा 156

जो परदव्बम्मि सुहं असुहं रागेण कुणदि जदि भावं ।
सो सगचरित्तभट्ठो परचरियचरो हवदि जीवो ।।१५६।।

परचरित्रता—जो जीव परद्रव्यों में रागवश शुभ अथवा अशुभ परिणाम करता है वह जीव अपने आत्मीय शुद्ध आचरण से भ्रष्ट होकर परसमय का आचरण करने वाला होता है । इस गाथा में परचारित्र में लगे हुए जीव का स्वरूप बताया है । जो जीव मोहनीय के उदय के वश होकर रज्यमान उपयोग वाला होता है और परद्रव्यों में शुभ अथवा अशुभ भावों को धारण करता है वह पुरुष आत्मीय चारित्र से भ्रष्ट होकर परचारित्र का आचरण करने वाला हुआ करता है । आत्मज्ञान से शून्य पुरुष विषयभोगों में प्रवृत्ति करेगा, वह भी परचारित्र है । और आत्मज्ञान से शून्य पुरुष दया परोपकार, सेवा के परिणाम करे वहाँ भी परचारित्र है । तथा आत्मज्ञान से शून्य पुरुष धर्म के नाम पर तप, भक्ति आदिक व्यवहार कार्य करे वह भी परचारित्र है ।किसी परचारित्र में शुभ परिणामों की प्रेरणा है और किसी परचारित्र में अशुभ परिणामों की प्रेरणा है । जो आत्मीय आचरण से भ्रष्ट होकर विकल्पात्मक प्रवृत्ति करना है वह सब परचारित्र है । क्योंकि स्वद्रव्य में शुद्धोपयोग से रहित स्वचारित्र है और परद्रव्य में उपराग सहित उपयोग की वृत्ति होना परचारित्र है ।

स्वयं का वैपरीत्य—यह आत्मा शुद्ध ज्ञानपर्याय में परिणत है । द्रव्यत्व के नाते से अगुरुलघुत्व गुण हानि-वृद्धि से जो स्वरूप सत्त्व के लिए अर्थपरिणमन होता है वह है शुद्ध गुण परिणमन । उसमें परिणत यह निज शुद्ध आत्मद्रव्य है । उसकी प्रतीति से भ्रष्ट होकर रागभाव से परिणमकर जो रागभाव निर्मल आत्मा की अनुभूति से अत्यन्त विपरीत है उससे परिणमकर जो समस्त परद्रव्यों में शुभ अशुभ भावों को करता है वह अपने आचरण से भ्रष्ट हो जाता है । निज शुद्ध स्वरूप का साक्षी रहना, केवल देखन जाननहार रहना अथवा उस परिणति का भी आधारभूत शुद्ध ज्ञायकस्वभाव उसकी दृष्टि करना यह तो सम्यक् है । उसके ज्ञान और उसके रमण से अब यह जीव अलग हो

जाता है तो वहाँ स्वसम्वेदन नहीं रहता, किन्तु पर की और का विकल्प रहता है, वही परचारित्र है ।

परचारित्र से विडम्बना—इस जीव ने अनादि से लेकर अब तक परचारित्र ही किया और परचारित्र करता जा रहा है, परचारित्र से विराम नहीं लेता । जिस भव में जो कुछ मिला उसे ही अपूर्व और सर्वस्व मानकर उस ही में रम जाता है, और यह सुध भूल जाता है कि ऐसा और इससे भी बढ़कर अनेक वैभव समागम अनेक बार इस जीव ने पाये हैं, भोगे हैं और छोड़े हैं । मिला कुछ तत्त्व नहीं उनसे । जैसे यहीं देख लो, जो लोग बड़े होकर, बूढ़े होकर गुजर गए हैं उनके बारे में आज विचार करो कि कितने वर्षों तक उन्होंने कठिन श्रम किया, उद्यम किया, विकल्प किया, अंत में उन्हें मिला क्या? जो मरकर चले गए उन्हें मिला क्या? सब अपने-अपने घर से सम्बंधित स्वर्गीय पुरुषों के सम्बंध में सोच सकते हैं । उन्हें मिला क्या? जैसे अंत में उन्हें कुछ नहीं मिला, ऐसे ही जब समागम हैं । इस समय भी हमें कुछ नहीं मिल रहा है, मरने के बाद तो यह बात स्पष्ट ही है कि कुछ न मिलेगा, पर जब तक जीवन है तब तक भी अपने को किसी भी समागम से कुछ मिल नहीं रहा है । केवल एक जिसमें जैसी योग्यता है मोह और राग की उसके अनुकूल विकल्प ही मचाये जा रहे हैं ।

धर्मपालन—शुद्ध विधि से धर्मपालन करने की बात जिसके मन में आये वह सत्पुरुष है, ज्ञानी है, विवेकी है, उत्कृष्ट पुरुष है । शुद्ध विधि से धर्मपालन तब ही तो बनेगा जब अपने शुद्ध स्वरूप का भी भान होगा । धर्म कहीं बाहर नहीं करना है, हमारा धर्म अर्थात् स्वभाव व स्वभावावलम्बन मंदिर में नहीं है, प्रतिमा में हमारा धर्म नहीं है, शास्त्रों के पन्नों में, पोथियों में हमारा धर्म नहीं है । वहाँ ही दृष्टि गड़ाकर, विकल्प करके शुद्ध विधि का धर्मपालन न होगा । हमारा धर्म, हमारा स्वभाव हम में है, और हमारे धर्म का यह शास्त्र प्रतिपादन करता है इसलिए इसकी भक्ति, इसकी सेवा व्यवहार में धर्मपालन है । हमारा जो धर्म है वैसा ही धर्म सब जीवों में है और जिन जीवों ने अपने धर्म का विकास कर लिया है ऐसे अरहंत प्रभु सिद्ध प्रभु का स्मरण अथवा अरहंतदेव की मूर्ति स्थापित करके उसके माध्यम से अरहंतदेव के गुणों का स्मरण अर्थात् आत्मा के धर्म का स्मरण हमारे धर्म की याद दिलाता है, हमारे धर्म का स्पर्श कराता है, इस कारण वह सब धर्म है व्यवहार में, लेकिन यह तो बतावो कि हमें धर्म कहाँ करना है?

अज्ञानी को धर्माधार का परिचय—हमें धर्म बाहर में किसी जगह नहीं करना है । भगवान में हमें धर्म नहीं करना है, भगवान तो स्वयं धर्मस्वरूप हैं, और उनमें हम कर क्या सकते हैं? उनमें ही क्या किसी भी परवस्तु में हम कर क्या सकते हैं । बाह्यक्षेत्र में इसका उत्तर मत तलाशों । हमें धर्म हम में ही करना है । तो जब हम अपने यथार्थ निरपेक्ष परमार्थस्वरूप को समझें तब ही तो हम उस धर्म की दृष्टि कर सकेंगे और धर्मरूप अपना अन्त: आचरण, सर्व श्रमों से रहित परमविश्रामरूप आचरण कर सकेंगे । ऐसे निज शुद्धस्वरूप का जिसको भान नहीं है ऐसा पुरुष ऐसा प्राणी परचारित्रचर हुआ करता है । उसे अपना शरण, अपना परमात्मा ज्ञात ही नहीं है । एक यही परचारित्र का काम करता चला आ रहा है यह जीव ।

अधर्म से निवृत्त होने की प्रेरणा—आज इस मनुष्यभव को इन बातों में निवृत्त होने के लिए ऐसा ही समझ लो कि जहाँ हमने अनन्त भव पाये हैं भोगों के लिए हम इस भव को गिनती में ही न लें, हमने यह पाया ही नहीं

है, चलो यों ही मानकर और फिर हित में सावधान होकर गुप्त ही अपने आप में शुद्ध विधि से धर्मपालन की बात बना लें तो यह पुरुषार्थ काम देगा इस जीव को । किन्तु ये परचारित्र के पुरुषार्थ बाह्य विषयों में लगने के ये पुरुषार्थ, ये श्रम, ये सब थोथे हैं, असार हैं, इनमें सार का नाम भी नहीं है । इन परचरित्रों में लगने से जीव का हित नहीं है, सर्वथा अहित है । अब अपनी वृत्ति बदले और निज स्वभाव की ओर हम जितना झुक सकें उसका यत्न करें, हिम्मत बनायें ।

शान्तिलाभ का साहस—स्वभाव मिलन की हिम्मत बनाने में सर्वप्रथम तो यह साहस करना होगा कि मेरा मेरे आत्मा के स्वरूप के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है । लाखों का वैभव जो-जो कुछ मिला है वह सब वैभव अत्यन्त न्यारा है । यह मिले, इससे भी शान्ति नहीं है । यह कम मिले उससे भी शान्ति नहीं, नहीं मिले उससे भी शान्ति नहीं । जब तक अज्ञानभाव बसा है तो प्रत्येक स्थिति में यह अज्ञानी जीव ऐसी कल्पनाएँ करेगा ही कि जो अशान्ति को उत्पन्न करेगी । वैभव न मिलता तो चाह में झूर-झूरकर विकल्प बनाकर अपने को परेशान कर लिया जाता । थोड़ा मिला है तो उससे भी अपने को परेशान किया जा रहा है । बहुत मिल गया दृष्टि पसारकर देखो, करोड़ों आदमियों से वैभव आपके पास अधिक है तिस पर भी शान्ति नहीं मिल रही, तो इसका कारण यह है कि वैभव शान्ति का कारण नहीं है । शान्ति का कारण तो सम्यग्ज्ञान, निरपेक्ष स्वरूप की ओर लगना, आत्महित का भाव यही है शान्ति का कारण । शान्ति के कारणों से तो दूर भागें और अशान्ति के आश्रय में लगें तो वहाँ आनन्द कहाँ प्राप्त हो सकता है ?

भोगों की असारता का निर्णय—भोग असार हैं, समागम असार हैं, इस बात का समर्थन गई-गुजरी बातों का स्मरण करके कर लीजिए । वर्तमान में जो स्थिति है उसमें तो निर्णय करना कठिन लग रहा है, और भावीकाल के लिए निदान बाँधकर जो वासना फँसाई है उसमें निर्णय करना कठिन लग रहा है । तो गई-गुजरी बातों का स्मरण करके तो निर्णय करना सुगम हो सकता है । अब तक इन्द्रिय के विषय नाना प्रकार से भोगे, अब उनका क्या आनन्द रहा? उनसे अब क्या हित हो रहा है? कौनसी बात आज आत्मा से ऐसी हुई जिससे यह कह सके कि देखो हमने समृद्धि का इतना काम तो कर लिया । अब वहाँ से दृष्टि हटायें और हितपथ की ओर अपनी दृष्टि लगायें । खुद के लिए खुद ही शरण है, खुद ही जिम्मेदार है । दूसरा कोई उत्तरदायी नहीं है, वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है । किसी को गालियाँ नहीं दी जा रही हैं, वस्तु का स्वरूप कहा जा रहा है । प्रत्येक जीव अपनी-अपनी ही धुन का काम कर रहा है । कोई किसी के काम नहीं आ रहा है । ऐसे इस नग्न संसार में परचारित्र की प्रवृत्ति बनाये रहना, यह हमारे कल्याण की बात नहीं है ।

गाथा 157

आसवदि जेण पुण्णं पावं वा अप्पणोध भावेण ।
सो तेण परचरित्तो हवदित्ति जिणा परूविंति ।।१५७।।

परचरित्रता—जो शुभ भावों से उपरक्त भाव है वह पुण्यास्रव है और जो अशुभोपयोग से उपरक्त भाव है वह पापास्रव है । इसका प्रतिपादन इस गाथा में किया है, जिस परिणाम से आत्मा का पुण्य अथवा पाप आस्रवित होता है वह

आत्मा में अशुद्ध भावों से परचारित्री होता हुआ अपने आपको मोक्षमार्ग से दूर रखता है और संसार में अपने को रुलाता है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने बताया है । आत्महित का पंथ कितना मुक्ति अनुभव पर आधारित है, वैज्ञानिक है, देखते जावो और करते जावो । देखते जा रहे हैं, हम जब जिस प्रकार का परिणाम करते हैं उस समय उस प्रकार का हम में श्रम क्लेश विह्वलता आदिक उत्पन्न होती हैं । और जब शुद्ध परिणामों की ओर चलते हैं तो सहज ही निराकुलता प्रकट होने लगती है । जैसा करते हैं तैसा हम भोगते हैं, यह बात अनुभव भी बता देता है और यही बात वस्तुस्वरूप की बात यथावत् जिनेन्द्रदेवने भी बतायी है ।

आस्रव का परिणाम—पुण्य और पाप का आस्रव करने वाला भाव इस निरास्रव परमात्मस्वरूप से अत्यन्त उल्टा है । कहाँ तो उसका सहजस्वरूप आस्रव से दूर रहने का है, निरास्रव है, परमात्मस्वरूप है और कहाँ उससे विपरीत है यह परिणाम, जो पुण्य और पाप का आस्रवण करता है? बहुत दूर की भी बात जाने दो, तत्काल की बात देख लो, यहाँ बुरा परिणाम किया और वहाँ ही मन से, वचन से अथवा काय से प्रवृत्ति हुई कि वही लोग लथाड़ देते हें और दंड देते हैं । कोई बलवान हुआ और तत्काल न भी दंड लोगों से पा सके, पर खोटी वृत्ति के फल में किसी समय दंड अवश्य पायगा और फिर कर्मों के बन्धन से आत्मपरिणामों का तो परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव है । कैसा ही बली, कैसा ही यशस्वी, कैसा ही अधिकारी हो और भले ही वह अपने जीवन तक भी अपने पाप कृत्यों को निभा ले जाय, किन्तु बचकर जायगा कहाँ, कर्मबन्धन से छूटकर रहेगा कहाँ? क्लेश, संक्लेश तो उसे तत्काल मिल ही रहे जो फल पाया वह तो वाजिब था ही, पर भविष्य में वह खोटा ही फल पायगा ।

सारभूत और असारभूत काम—भैया ! शुद्ध आत्मा का अनुभव ही एक सारभूत काम है, इस वाक्य को अपने सामने लिखकर रख लो, जब चाहे इसको याद कर लो, जब चाहे इसको कसौटी पर कस लो । मैं शुद्ध ज्ञानमात्र हूँ—इस प्रकार का अनुभव बने वह परिणाम तो है आनन्ददायक, शिव साधक, कल्याणस्वरूप । और एक इस आत्मानुभव के अतिरिक्त किसी भी परतत्त्व में लगे-बड़े अच्छे लड़के हैं, बड़ा अच्छा परिवार हैं, लोग बड़े प्रेम से बोलते हैं, बड़े सुख में जीवन कटता है, बड़ा विनय करने वाले स्त्री पुत्र हैं, हमारी आज्ञा सभी मानते हैं, सब कुछ है, किन्तु ये सब तुम्हारे विकल्पों के कारण ही तो बन रहे हैं । तुम्हारे लिए तो क्षोभ परिणाम के ही आश्रय बन रहे हैं । अच्छा हो कोई तो, बुरा हो कोई तो, किसी भी परपदार्थ में लगाई हुई दृष्टि से जो चारित्र बनता है वह जीव के अहितरूप ही है ।

व्यर्थ समययापन—अहो, जितनी प्रीति परिजन और वैभव में होती है उतनी प्रीति देव, शास्त्र, गुरु के प्रति होती तो यह प्रीति लाभ देने वाली होती । मोह का परिणाम किया वर्षों तक, जिन्दगीभर स्त्री-पुत्र ही सब कुछ सुहाये, उनकी व्यवस्थाओं में ही अपने उपयोग को लगा दिया । समय तो गुजर रहा है, आयु तो प्रतिसमय घट रही है, मृत्यु के तो सन्मुख ही जा रहे हैं, एक तो यह जीवन छिद भिद रहा है और फिर दूसरे परोपयोग करके बेचैनी बन रही है, जिस बेचैनी का स्वागत भी करते जाते हैं उस बेचैनी का फल भी भोग रहे हैं और आगे भी भोगेंगे । अब शत-प्रतिशत अपने मन में यह निर्णय बना लो कि मेरा मेरे स्वरूप के अतिरिक्त अन्य समस्त पदार्थ मेरे कुछ नहीं हैं । किसी भी परपदार्थ के समागम से अपने को सौभाग्यशाली समझना, यह बड़ी भूल होगी ।

भाग्य की अहितरूपता—भैया ! भाग्य को तो फोड़ना पड़ेगा । लोग किसी निर्धन असहाय को देखकर कहते हैं कि इसका भाग्य फूट गया । अरे कहाँ भाग्य फूट गया? भाग्य फूट जाता तो कल्याण हो जाता । यह भाग्य शुभ अथवा अशुभ दो भागों में बँटा है । यह भाग्य ही तो इस जीव को परेशान कर रहा है, चारों गतियों में भटका रहा है । हमें भाग्य की रंच जरूरत नहीं है । हमें न चाहिए भाग्य । मैं तो यह केवल ही अनन्त समृद्धियों से परिपूर्ण हूँ, मुझे अन्य कुछ भी लेप न चाहिए । मैं जैसा सहज शुद्ध निजस्वरूपमात्र हूँ मैं तो उतना ही भर रहना चाहता हूँ अर्थात अपने उपयोग से इतना ही मानता रहूँ कि मैं इसमें ही रति करता रहूँ, बस यह चाहिए, अन्य कुछ न चाहिए ।

अभीष्टता—लोग केवलज्ञान से सर्वज्ञपने का चमत्कार सुनकर उस सर्वज्ञता की चाह में बढ़ने लगते हैं । मुझे न चाहिए सर्वज्ञता । मुझे तो केवल अपने स्वरूप का स्पष्ट ज्ञान चाहिए और उस स्वरूप में लगना चाहिए । मुझे न चाहिए वह केवल दर्शन, सर्वदर्शिता, मैं तो केवल अपने सहजस्वरूप को ही लखता रहूँ यही दर्शन चाहिए । मुझे न चाहिए अद्भुत अनन्तआनन्द । किन्तु स्वरूप से विरुद्ध जो बात है, आकुलता का परिणाम है, क्षोभ का कलंक है वह क्षोभ न चाहिए । क्षोभ से रहित केवल ज्ञाताद्रष्टा रहने की स्थिति में रहूं, इतना भर चाहिए । मुझे न चाहिए अनन्तशक्ति । मैं तो इतनी शक्ति चाहता हूँ कि मैं अपने स्वरूप में स्थित रह जाऊँ । भले ही हमारे इस निज की संभाल में जो कुछ विकास बने, पर मुझे उसकी तृष्णा करना नहीं है, केवल स्वरूप की ओर लगना है । ऐसा ज्ञान का जो स्वचारित्रभाव रहता है उस भाव से अज्ञान दूर रहता है । अज्ञानभाव परपदार्थों में ही अपनी दृष्टि बनाता है, विकल्प परिणति करता है, वह तो बंध का मार्ग है, मोक्ष का मार्ग नहीं है ।

गाथा 158

जो सव्वसंगमुक्को णण्णमओ अप्पणं सहावेण ।
जाणदि पस्सदि णियदं सो सगचरियं चरदि जीवो ।।१५८।।

स्वकचरित्र का अधिकारी—जो जीव अपने शुद्ध स्वभाव से आत्मा को निश्चय करके जानता है और देखता है वह जीव अन्तरंग और बहिरंग परिग्रहों से रहित होता हुआ एकाग्रचित्त होकर स्वसमय आचरण का पालन करता है । जीव को वास्तविक शान्ति मिले, इसके उपाय में केवल एक यह निज कला ही समर्थ है कि वह बाह्य पदार्थों से, परभावों से अपनी दृष्टि मोड़कर केवल अपने आपके सहजस्वरूप को ही देखे । और ऐसी प्रतीति बनाए रहे कि यह मैं आत्मा समस्त पर और परभावों से रहित केवल शुद्ध चैतन्य शक्तिमात्र हूँ, ऐसा अपना अंत:निर्णय रहे । इस अन्त: पुरुषार्थ से शान्ति प्राप्त हो सकती है ।

स्वसमयता—स्वसमय क्या चीज है? इसके सम्बन्ध में सुनिये—निज शुद्ध आत्मा का स्वसम्वेदन और ऐसा ही परिणमन होना स्वसमय है । शुद्ध आत्मा से मतलब यहाँ केवलज्ञान, केवल दर्शनमय आत्मा से नहीं है, किन्तु समस्त पर से रहित केवल यही जैसा कुछ हो उस ही का नाम शुद्ध आत्मा है । शुद्ध शब्द का अर्थ पर से रहित अपने स्वरूपमात्र होना है । शुद्ध विकास स्वाभाविक विकास से मतलब यहाँ शुद्ध का नहीं है । अरहंत प्रभु सिद्ध प्रभु की जो वर्तमान शुद्ध स्थिति है उसकी बात नहीं कही जा रही है, किन्तु अपने आपमें यह स्वयं पर से रहित और

अपने स्वरूप में स्वयं कैसा है उस सत्त्व को शुद्ध शब्द से पुकारा गया है । जो आत्मा अपने को शुद्ध अनुभव करता है अर्थात् एकाकी अपने ही सत्त्व के कारण अपने आप में जो सहज है उस रूप जो अपने को मानता है उसका बेड़ा पार है । और जो अपने इस परमार्थ सहजस्वरूप से चिगकर बाहर में किसी परिजन से, घर से, वैभव से, देह से, यश से जो अपनायत करता है बस वही संसार में गिरता है ।

संसारभ्रमण व संसरणमुक्ति के उपाय—संसार में रुलने और संसार से छूटने के बस ये ही दो उपाय हैं। जो जीव अपने आपके इस शुद्ध आत्मस्वरूप का सम्वेदन करता है, वीतराग परमसामायिक रूप स्वचारित्र का अनुभव करता है, वह सर्व संग से मुक्त होकर प्रकट स्वसमय बन जायगा और संसार से छूट जायगा तथा जो पर में अपनायत करेगा वह संसार में रुलेगा । परमार्थत: देखो तो हम आप सभी जीव बाह्यपरिग्रहों से रहित ही हैं । न आज तक हम आपमें बाह्यपरिग्रह आये हैं और न कभी आ सकेंगे । केवल इन बाह्यपदार्थों के सम्बंध में अंतरङ्ग में जो कल्पनाएँ बनायी हैं, बना रहे हैं वे बस रही हैं हम आपमें । बाह्य परिग्रह तो अब अन्तर में भी नहीं है, और जब यह जीव निज शुद्ध आत्मा का अनुभवन करता है वहाँ तो अन्तरङ्ग परिग्रह भी नहीं हैं । तो एक इस कला में अपने आपके सहजस्वरूप का दर्शन करें, एक इस कला में परिग्रह रहितपना तो स्वयमेव ही पड़ा हुआ है । केवल एक मानने की आवश्यकता है ।बात जहाँ जैसी है वह तो है ही । यह स्वयं सबसे न्यारा केवल अपने स्वरूपमात्र है ऐसा मान लें बस इसमें कल्याण है ।

ज्ञानी का भाव—तीन लोक तीन काल में भी मन, वचन, काय से कृतकारित अनुमोदना में समस्त बाह्य और आभ्यंतर परिग्रहों से शून्य हो जाता है यह ज्ञानी जीव । न उसके व्यतीत हुए अनन्त काल में कोई परिग्रह था, न उसके भविष्य में भी कोई परिग्रह होगा और न वर्तमान में भी उसके साथ कोई पदार्थ लिपटा है । ज्ञानी पुरुष तो जानता है कि यह मैं आत्मा अपने स्वरूप सत्त्वमात्र अब भी हूँ, पहिले था, आगे भी होऊँगा । ऐसा शुद्ध निर्लेप अपने आपकी कोई सुध करे तो उसे क्या कष्ट है? कह हम आपने बनाया, कल्पनाएँ कर-करके हमने ही अपने कष्ट में बढ़ाया । उन कल्पनाओं पर नियंत्रण करने की आवश्यकता है ।

स्वरूपनिबन्धन—स्वरूप की दृष्टि से दो बातें तय की जाती हैं, एक तो यह पर से रहित है और दूसरे अपने ही स्वरस से परिपूर्ण है । अपने स्वरूप से किस प्रकार परिपूर्ण है यह? यह आत्मा समस्त आत्मप्रदेशों में सहज परम आनन्दरस से भरपूर है । यह आनन्दरस अपने आपमें ही झरता हुआ प्रकट होता है । जब यह जीव परिग्रहरहित परम आत्मतत्त्व की भावना करता है तो उस भावना के द्वारा अपने आपके प्रदेशों में ही निरंतर आनन्द ही आनन्द झारता है, उस आनन्दरस से परिपूर्ण यह आत्मा स्वयं है । तात्पर्य यह है कि यह आत्मा आनन्द का भंडार हे । जैसे यह आत्मा परिपूर्ण ज्ञान का भंडार है, ऐसे ही यह आत्मा अनन्त आनन्द का भंडार है, पर कोई धैर्य रखे, साहस करे, इस ओर झुके, ऐसी ही दृढ़ता से मान ले तो उसका कल्याण है । और जो ऐसा आनन्द भंडार होकर भी अपने आपको यों नहीं मान सकता है वह जरा-जरासी बातों में कल्पनाएँ बना-बनाकर बढ़ा-बढ़ाकर दुःखी होता रहता है ।

एकाग्रचित्तता—यह साधु पुरुष, यह योगी पुरुष जो आत्मयोग की साधना कर रहा है वह एकाग्र मन होकर

सहजस्वरूप का ध्यान करता है । वहाँ उस योगी के अंदर कोई विकल्पजाल नहीं है । जैसे संसारी पुरुष, मोही पुरुष कभी-कभी एक चित्त होकर किसी की ममता में मग्न होते हैं, ऐसे ही ये योगी पुरुष निर्विकल्प, अखण्ड शुद्ध चैतन्यस्वभाव की रुचि से और इसही के आलम्बन से जो उन्हें आनन्द प्राप्त होता है उस आनन्दरस से तृप्त होकर एक उस सहजस्वभाव की ओर ही झुके रहते हैं, उस ही में उनका एकाग्र मन रहता है । जैसे किसी पुरुष के इष्ट का वियोग हो जाय तो चलते, उठते, सोते आधी नींद में कभी जागते में ही उसके इष्ट का ख्याल बना रहता है, उसकी ही मूर्ति सामने बनी रहती है, ऐसे ही जिसको इस आत्मस्वभाव की रुचि जगी है और आत्मस्वभाव का इस समय में उपयोग हो रहा है, उस ही उपयोग में रुचि है उस ही का तो वह ज्ञानी योगी पुरुष ध्यान किया करते हैं । यों निर्विकल्प परमात्मतत्त्व की भावना में एकाग्रचित्त हुए पुरुष स्वसमय बनते हैं अर्थात् आनन्दमग्न रहते हैं ।

धर्माचरण—भैया ! जब कोई कहे कि धर्म करो तो उसका सीधा अर्थ यह लगा लेना कि वास्तविक आनन्द में लीन रहो । धर्म करना और वास्तविक आनन्द में लीन रहना इन दोनों का एक ही अर्थ है । धर्म कष्ट से नहीं होता, क्लेश कर-करके धर्म नहीं होता । जो साधु जन बड़े-बड़े तपश्चरण करते हैं, सर्दी गर्मी के दुःख सहते हैं, क्षुधा तृषा के क्लेश सहते हैं उन्हें देखकर अज्ञानी जीवों को ऐसा लगता है कि ये योगी पुरुष बड़े क्लेश सहते हैं, लेकिन वे योगी पुरुष अन्तरंग में क्या कर रहे हैं? वे आनन्दरस से तृप्त हो रहे हैं । बड़ी कड़ी धूप में पर्वतों पर तपस्या कर रहे हैं, सारा शरीर पसीने से लथपथ है । योगियों की इस प्रकार की दशा को देखकर अज्ञानी जन आश्चर्य करते हैं, अहो कैसा ये क्लेश सह रहे हैं, पर वे योगी क्लेश नहीं सह रहे हैं, किन्तु अपने आत्मस्वरूप की भावना के प्रसाद से अन्तरङ्ग में प्रसन्न हैं । उनकी प्रसन्नता को दूसरे क्या जानें? वे इतने आनन्दमग्न हैं कि यों दिन रात महीने भी बीत जाते और उन्हें ऐसे ही कुछ महसूस भी नहीं होता कि कितना समय व्यतीत हो गया? वे योगीपुरुष ऐसे आनन्दमग्न रहते हैं कि स्यालिनी पैर का भक्षण भी कर रही है, मांस भी अलग हो गया है, लेकिन उनके वेदना का नाम ही नहीं है, आनन्द की मग्नता है । भला कष्ट होता तो क्या कष्ट के बाद मोक्ष जैसी अवस्था हो सकती है? मोक्ष की अवस्था शुद्ध आनन्द के अनुभव के प्रसाद से ही हो सकती है ।

व्यर्थ विकल्पभार—हम आप सभी जीव बिल्कुल व्यर्थ ही दुःखी हो रहे हैं, कष्ट सह रहे हैं और वह भी कष्ट है कल्पनाओं का, मानसिक कष्टों का । अरे सबसे विभिन्न एक इस निज शुद्ध स्वरूप पर दृष्टि करें तो सारे संकट समाप्त हो जाते हैं । रही यह बात कि मित्रों का, परिजनों का क्या होगा? हम यह पूछते हैं कि मित्र और परिजनों की रक्षा क्या आप ही कर रहे हैं? उनके पुण्य का उदय न हो और उन्हें सुख प्राप्त हो जाय, क्या ऐसा कभी हो सकता हैं? अरे जैसे हम आप जीव हैं ऐसे ही वे सब जीव हैं । जैसे कर्म हम आपके साथ हैं वैसे ही कर्म उनके साथ हैं । हम उनका क्या करते हैं? और दूसरी बात यह मान लो कि कुछ हम पर निर्भर है तो आप उनकी जिम्मेदारी कब तक निभा सकते' हैं? आप बतलावो तो सही । अपनी ही जिम्मेदारी जब निभा नहीं सक रहे तो दूसरे की जिम्मेदारी क्या निभाई जा सकेगी? और सब कुछ है, सब परिणमन है, जिसका जैसा भाग्य है वह अपने भाग्य से सब कुछ प्राप्त कर रहा है, उसमें आप भी निमित्त हो रहे हैं, दूसरे भी निमित्त हो सकते हैं।

अवसर के सदुपयोग की प्रेरणा—भैया ! आत्महित के सम्बंध में इतना तो विचारिये कि यह मनुष्यजीवन कितनी कठिनता से प्राप्त हुआ है? संसार के अन्य जीवों पर दृष्टि दो तो वे भी जीव हैं, कीड़ा-मकोड़ा पेड़ आदिक, क्या ऐसे हम न थे, नहीं हो सकते थे? कल्पना करो यदि आज हम आप लोग कोई भी ऐसे कीड़ा मकोड़ा, पतिंगे होते तो किस स्थिति में होते? आज कुछ यह विकास हुआ । क्या उन निकृष्ट परिस्थितियों में इतना जानना, समझना, बड़ी-बड़ी बातों का निर्णय करना ये सब बातें हो सकती थीं? यदि आज शुभ अवसर पाया है, इस अवसर को यदि ममता में ही खो दे, विकल्पजालों में ही गंवा दें तो बतलावो इन सब समागमों का लाभ क्या पाया? जो पुरुष इस निज शुद्ध आत्मा को जानता है, किस रूप से? यह जैसा स्वयं अपने सत्त्व के कारण है निर्विकार, क्या केवल जीवों में रागादिक भाव हो सकते हैं? न इनके साथ उपाधि हो, न कर्मबन्धन हो तो क्या जीवों में कोई रागादिक बन सकते हैं? कभी नहीं बन सकते, यद्यपि बन रहे हैं ये रागादिक, पर बनते हुए की हालत में भी हम अपने उस सहजस्वरूप को संभालें जो केवल है, अपने सत्त्व में अकेला है उसके स्वरूप को तो देखो ।

स्वभावावलोकन का उपक्रम—इस समय भी आत्मा का सहजस्वरूप देखा जा सकता है सम्भावना के बल पर । यदि ये कर्म न होते, शरीर न होता तो मैं किस प्रकार की स्थिति में होता, ऐसी तर्कणा बनाने के बाद अपने आपके एकत्व का विशद अवगम हो सकता है कि मेरा स्वरूप क्या है? तो जीव उपरागरहित कलुषता रहित उपयोगमयी होने से सर्व संक्लेशों से मुक्त हो गए हैं, निशंक रहने में कैसी निरुपरागता रहती है, कैसी आनन्द की स्थिति रहती है, यह बात तो हम आप सभी इस क्षण भी समझ सकते हैं । जरा यह मानकर अपनी ओर तो आयें कि यह मैं तो अपने स्वरूप में उतना ही मात्र हूँ जो एक चित्प्रकाश है । उस केवल परदृष्टि रखें तो स्वयं ही अपने आप में से उस आनन्द की अनुभूति हो लेगी, जिसके बाद हम यह स्पष्ट समझ सकेंगे कि ओह ! मैं तो ऐसा ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ ।

स्वचारित्रारम्भ—जब यह जीव सर्व संग से मुक्त होकर आत्मभावना में सम्मुख होकर एक चित्त होकर मैं शुद्ध ज्ञानदर्शनमात्र हूँ इस रूप से परखता है तब विशुद्ध आनन्द का अनुभव करता है यह । आत्मरूप परखने की कसौटी यह निरपेक्ष उपयोग है । हम केवल अपने हित की ही दृष्टि बनायें और बाह्य पक्ष छोड़े तो ऐसे आशय को आप कसौटी ही समझिये । जब तक हमारा, आत्महित के लिए ही विशुद्ध आशय नही बनता तब तक हमारी वास्तविक परख नहीं बन सकती । यों विशुद्ध आशय बनाकर जो ज्ञान दर्शनस्वरूप अपने को जानता है वह जीव अपने आत्मा का आचरण करने वाला है । शुद्ध ज्ञानमय आत्मतत्त्व में इतना, ही मात्र अपना अनुभवन करना, यही है स्वचारित्र, यही, है स्वसमय, यही है मोक्ष का मार्ग । नो पदार्थाधिकार के बाद मोक्षमार्ग का विस्तार बताने वाला यह चूलिका का प्रकरण है । इसमें निश्चय से मोक्षमार्ग क्या, व्यवहार से मोक्षमार्ग क्या, इन सब बातों का स्पष्ट वर्णन किया गया है । निश्चयमोक्षमार्ग के प्रकरण में यह कहा गया है कि अपनी ओर झुकना, लीन होना, समाना, यही वास्तव में मोक्ष का मार्ग है ।

गाथा 159

चरियं चरदि सगं सो जो परदव्वप्पभावरहिदप्पा ।

दंसणणाणवियप्पं अवियप्पं चरदि अप्पादो ।।१५९।।

स्वकाचरण—वह पुरुष अपने आप के स्वरूप का अनुचरण करता है जो निर्विकल्प आत्मस्वरूप का उपयोग करता है । कैसा है यह आत्मा? रागद्वेष मोह से रहित सदा आनन्दस्वरूप, जहाँ जीवनमरण का भी पक्ष नहीं है, लाभ अलाभ में भी राग पक्ष नहीं है, सुख दुःख का भी पक्ष नहीं है, निन्दा प्रशंसा का भी पक्ष नहीं है, सर्व स्थितियों में इसके समता, जगी है, ऐसा यह प्राणी अपने आपके स्वरूप का अनुचरण करता है ।

जीवनमरण में समता—जैसे किसी पुरुष को महत्वपूर्ण कार्य सामने लगा हो तो, वह छोटी-छोटी बातों में रागद्वेष में नहीं फंसता, उसका तो कोई महत्वपूर्ण कदम सामने पड़ा हुआ है । ऐसे ही जिस ज्ञानी योगी पुरुष का लक्ष्य महत्वपूर्ण है, मोक्ष का लक्ष्य है, शुद्ध स्वभाव को प्रतीति में लेने का जिसका निरन्तर प्रवर्तन चल रहा है, ऐसे पुरुष का जीवन और मरण भी कोई अन्तर वाली बात नहीं रहती । जीवित रहे तो क्या, मरण हो तो क्या? आत्मस्वभाव की दृष्टि से रहित रहकर जीवन रहा तो उससे लाभ क्या, और आत्मस्वभाव की दृष्टि सहित होकर मरण हो गया तो उससे नुक्सान क्या? अथवा यह जीवन किसलिए है, क्या करना है, इस ज्ञानी पुरुष का जीवन और मरण दोनों एक समान जंच रहे हैं । दोनों में उसके समताभाव है । उसका झुकाव तो एक निज अंतस्तत्त्व की ओर है ।

लाभ अलाभ में समता—ज्ञानी के यहाँ लाभ अलाभ क्या? ये बाहरी पदार्थ अत्यन्त प्रकट भिन्न हैं, वे निकट आ गये तो क्या, दूर चले गये तो क्या, और मेरा इस आत्मस्वरूप का पहिचाननहारा भी इस लोक में कोई नहीं है । जो लोक व्यवहारी जीव मुझ से बात करते हैं वे मेरे आत्मस्वरूप को लक्ष्य में रखकर नहीं करते, किन्तु पौद्‌गलिक मूर्तरूप से जो कुछ सामने है, जो दूसरों की इन्द्रियों के द्वारा ज्ञात होता है उस मुद्रा को लक्ष्य में रखकर बात करते हैं । लाभ अलाभ भी इस ज्ञानी योगी पुरुष के लिए एक समान बात है । वह प्रसन्न होता है तो आत्मानुभव से प्रसन्न होता है, खेद तब होता है जब आत्मानुभव नहीं हो पाता है। इसके सिवाय अन्य परिणमन कैसे ही होते हों, उनका तो मात्र यह ज्ञाताद्रष्टा रहता है। यह है ज्ञानी जीव की अंतरंग परिस्थिति।

सुख दुःख में समता—यह ज्ञानी पुरुष सुख और दुःख दोनों में समान रहता है। दुःख हो तो क्या? यही तो बात है कि कुछ इन्द्रियों को न सुहाये ऐसी परिस्थिति हो गयी सुख हो तो क्या? यही तो बात है कि इन्द्रियों को सुहा जाय ऐसी परिस्थिति हो गयी। न ये इन्द्रियाँ रहेगी, न ये सुख दुःख रहेंगे, न ये बाह्य साधन रहेंगे और न ऐसी मन की कल्पनाएँ रहेंगी। यह सब मायाजाल है। सुख दुःख में ज्ञानी जीव की समान बुद्धि रहती है।

निन्दा प्रशंसा में समता—निन्दा और प्रशंसा में भी ज्ञानी के समता रहती है। निन्दा के वचन अथवा प्रशंसा के वचन क्या है? वे तो भाषावर्गणा के परिणमन हैं, अचेतन है और उन वचनों का प्रयोग जो आत्मा के निमित्त से होता है। उस आत्मा ने तो केवल अपने आपकी खुद में अपनी कल्पना बनाई थी, उसने मुझमें कुछ उत्पन्न नहीं किया। यह ज्ञानी योगी पुरुष वस्तुस्वरूप को अभेद निरखकर इस मुझ आत्मतत्त्व में पर का प्रवेश हो जाय ऐसा नहीं हैं, यह पर से अप्रविष्ट है। ऐसे आत्मतत्त्व को निरखकर यह ज्ञानी निन्दा में और प्रशंसा में दोनों में समान रहता है। यों जो समता के अनुकूल अपने आत्मस्वरूप का आचरण करता है वह परद्रव्यों में आत्मीयता का भाव कैसे कर सकेगा? ये परद्रव्य ममत्व के कारणभूत हैं, उन्हें अज्ञानी ही अपना सकेगा, ज्ञानी नहीं अपना सकता।

ज्ञानप्रकाश—भला एक बार शुद्ध ज्ञान का प्रकाश हो जाने पर फिर क्या वह असत्य बात आ सकती है? जैसे किसी ने स्वप्न में बड़ी निधि पायी हो और वह जग जाय तो जग जाने पर उसे सही पता हो गया कि वह सब केवल स्वप्न था, लेकिन जग जाने के बाद भी यह जीव स्वप्न में जैसा मौज लूट रहा था उस वैभव को पाकर मौज लूटने के लिए जबरदस्ती आंखें मींचकर पड़ जाय तो क्या वे बातें आ सकती हैं? नहीं आ सकती हैं? इसी प्रकार मोह की निद्रा में जो कुछ निरखा था। और उससे सुख दुःख भोगा गया था, एक बार सत्य तत्त्व का प्रकाश हो जाने पर फिर क्या वे व्यामोह के समय की व्यवहार की बातें जबरदस्ती करने पर भी आ सकती हैं? नहीं आ सकती है। तो ज्ञानी जीव को परद्रव्यों में अपनाने का विकल्प नहीं रहता है। यों यह वीतराग स्वसम्वेदन ज्ञानी समस्त मोह वासनाओं से रहित है परभावों का त्यागी है, आत्मभावों के सम्मुख हुआ हे। यह आत्मस्वभावरूप दर्शन ज्ञान को अभेद रूप से निरखता है। वह तो मैं ज्ञान, दर्शन मात्र हूँ, ऐसे अनुभव पद से शुद्ध समय के, स्वसमय के पथ पर चल रहा है।

अविकल्पतता का प्रभाव—ज्ञानी पुरुष ज्ञान होने के बाद प्रथम तो सविकल्प अवस्था में मैं ज्ञाता हूँ, मैं द्रष्टा हूँ यों विकल्प करता है, पर वही ज्ञानी पुरुष इस ज्ञातृत्व की, इस दृष्टत्व की स्थिति में अपने को अभेदोपयोगी बनाकर जब निर्विकल्प समाधि प्राप्त करता है उस समय इन समस्त शुद्ध ज्ञान दर्शनों से भिन्न केवल आत्मा का ही सम्वेदन करता है । यह बात तो अध्यात्मयोग की है और लोकपद्धति में भी देखो—जिस समय आप बढ़िया लड्डू, हलुवा कुछ भी खा रहे हों, जब तक आप उसके सम्बंध में यों सोचते रहेंगे कि इसमें घी ठीक पड़ा, इसमें बूरा अच्छा पड़ा, यह सिका भी अधिक है उस समय आप एकाग्र मन होकर स्वाद नहीं भोग सकते हैं, आप उस समय विकल्पों में पड़ जाते हैं । जब यह अनन्य स्वभाव का ध्यान करता है तो इस आत्मा को ज्ञाताद्रष्टा रहने का भी विकल्प नही रहता । यों शुद्ध द्रव्य के आश्रित अभिन्न अर्थात् जहाँ वही साध्य है, वही साधन है, ऐसा निश्चयनय का आश्रय करके मोक्षमार्ग को तके तो वह अपने आपकी रुचि, अपने स्वभाव का ज्ञान और अपने स्वभाव में मग्न होना इस रत्नत्रयरूप ही मोक्षमार्ग को पाकर सिद्ध होता है ।

गाथा 160

धम्मादीसद्दहणं सम्मत्तं णाणमंगपुव्बगदं ।
चिट्ठा तवंहि चरिया ववहारो मोक्खमग्गोत्ति ।।१६०।।

व्यवहारमोक्षमार्ग का वर्णन—इस गाथा में व्यवहारमोक्षमार्ग का प्ररूपण है । धर्मादिक द्रव्यों का यथार्थ श्रद्धान करना सो व्यवहार सम्यक्त्व है । ११ अंग १४ पूर्व में प्राप्त हुए ज्ञान को व्यवहार सम्यग्ज्ञान कहते हैं और १२ प्रकार के तपों में १३वें प्रकार के चारित्रों मे जो चलन है, प्रवृत्ति है उसे व्यवहारचारित्र कहते हैं । इस प्रकार व्यवहार सम्यग्दर्शन, व्यवहार सम्यग्ज्ञान और व्यवहार सम्यक्चारित्ररूप व्यवहार मोक्षमार्ग कहा है । व्यवहार मोक्षमार्ग में व्यवहार का यह अर्थ है कि यह निश्चय मोक्षमार्ग को कारण होता है । व्यवहारनय का आश्रय करके जिसमें भिन्न साध्य हो, भिन्न साधन हो और जो स्व और पर का कारण पूर्वक हो वह सब वर्णन व्यवहार का वर्णन कहलाता है । यह व्यवहार भी निषिद्ध नहीं है, क्योंकि निश्चय और व्यवहार का परस्पर में साध्यसाधन भाव है ।

साध्यसाधनभाव का दृष्टान्त—जैसे स्वर्ण और जिस मिट्टी से स्वर्ण निकलता है वह स्वर्णपाषाण । स्वर्ण यद्यपि स्वर्ण नहीं है, स्वर्ण पाषाण में यदि विधिपूर्वक प्रयोग किया जायतो मन-दो मन पाषाण में से कोई एक-दो तोला स्वर्ण निकलता है, लेकिन स्वर्णपाषाण कारण तो हुआ स्वर्ण निकलने का । जैसे इन दोनों में परस्पर साध्यसाधन भाव है इसी प्रकार व्यवहारमोक्षमार्ग में और निश्चयमोक्षमार्ग में साध्यसाधन भाव है जो निश्चयमोक्षमार्ग का कारण है वह व्यवहारमोक्षमार्ग है अर्थात् जो स्वयं यथार्थ तो मोक्षमार्ग नहीं है, किन्तु यथार्थ मोक्षमार्ग के पहिले होने वाला जो परिणाम है वह व्यवहारमोक्षमार्ग है । परमेश्वर की आज्ञा अथवा उनका तीर्थ प्रवर्तन दोनों नयों के अधीन होता है, निश्चय और व्यवहारनय । केवल निश्चयनय का ही एकान्त किया जाय तो तीर्थप्रवृत्ति नष्ट हो जायगी । तीर्थ का प्रवर्तन व्यवहार के अधीन है और यदि केवल एकान्त का व्यवहार किया जायगा तो तत्त्व की बात समाप्त हो जायगी । अतएव प्रभु का उपदेश निश्चयनय और व्यवहारनय दोनों नयों के अधीन हुआ करता है । इससे पहिले भी व्यवहारमोक्षमार्ग का वर्णन किया है । अतएव यहाँ पर इस ढंग से व्यवहारमोक्षमार्ग का वर्णन करते हैं कि निश्चयमोक्षमार्ग की साधकता सिद्ध हो ।

प्रयोजनभूत श्रद्धान की श्रावक व साधु में समानता—वीतराग सर्वज्ञ द्वारा प्रणीत जीवादिक पदार्थों के विषय का यथार्थ श्रद्धान होना और ज्ञान होना—ये दोनों गृहस्थ के और तपस्वी के समान हैं । श्रद्धान का जहाँ तक प्रश्न है गृहस्थ साधु से पीछे नहीं रहता और मोक्षोपयोगी मोक्षमार्ग में लगने के लिए जो एक ज्ञान चाहिए, भेदविज्ञान स्वरूप परिज्ञान, वह भी तपस्वी से कम नहीं होता । केवल एक चारित्र में अन्तर होता है । तपस्वी जनों के तो आचार आदिक ग्रन्थों में जैसा मार्ग बताया है उस मार्ग से १३ प्रकार का चारित्र होता है । ६ आवश्यक होते हैं, किन्तु गृहस्थ जनों के उपासकाचारों में जैसे कहा गया है पंचम गुणस्थान के योग्य दान, शील, पूजा, उपवास आदिकरूप अथवा एकादश प्रतिमावों के पालनरूप चारित्र होता है, किन्तु श्रद्धान में जो तपस्वी का श्रद्धान है वही गृहस्थ का श्रद्धान है ।

प्रयोजमभूत श्रद्धान—मोक्षमार्ग के प्रयोजनभूत जीवादिक ७ तत्त्वों का किस प्रकार का श्रद्धान होता है सम्यग्ज्ञानी के, वह संक्षेप में इस प्रकार समझिये । जीव के सम्बंध में यह अवगम रहता है कि यह जीव स्वभाव से निश्चयनय से एक शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, परभावों से रहित अपने स्वरूप में तन्मय चैतन्यमात्र यह जीव है, किन्तु अनादिकाल से अज्ञानवश रागद्वेष मोह की प्रेरणा से इसकी संसाररूप अवस्था बन रही है और यह संसाररूप अवस्था किसी परउपाधि के निमित्त से हो रही है । स्वयं ही कोई पदार्थ स्वयं के विकार का कारण नहीं होता है और ऐसा विकार होने में जो कारण है वह है अजीव पदार्थ, कर्म पदार्थ । ये कर्म जीव के रागादिकभावों का निमित्त पाकर अति हैं, बँधते हैं, और जब इनका उदयकाल होता है तब जीव में रागादिक पुनः आते हैं और इस प्रकार भावास्रव, द्रव्यास्रव, भावबंध, द्रव्यबंध की परम्परा चलती रहती है । और इस परम्परा में ये आस्रव और बंध तत्त्व आ जाते हैं । जब यह जीव अपने स्वरूप की सम्हाल करता है तो परद्रव्यों से मोह रागद्वेष इसके दूर होते हैं तब सम्वर और निर्जरा होती है । नवीन कर्म नहीं आते, पुराने कर्म झरते हैं ये दो तत्त्व प्रकट होने लगते हैं, और इन दो तत्त्वों के प्रसाद से इस जीवका, सदा के लिए कर्मों से मोक्ष हो जाता है ।

परिणमनस्वातन्त्र्य का अवलोकन—इस नवतत्त्व की प्रक्रिया के होते हुए भी वस्तुत्व की दृष्टि से देखा जाय तो जीव-जीव में ही जीव का कार्य करता है, अजीव-अजीव में ही अजीव का कार्य करता है । जीव ने रागादिक किया और यहाँ कर्मों में आस्रव बंध हुआ, इतने पर भी जीव ने अपने आप में रागादिक भावों का आस्रव किया, कर्म का आस्रव बंध नहीं किया, और उन कार्माणवर्गणाओं में उनके ही प्रसाद से आस्रवत्व और बंधत्व आया, ऐसे ही यह जीव जब सम्वर और निर्जरा कर रहा है तो जीव कर्म का सम्वर नहीं कर रहा, वह तो स्वयं हो जाता है जीव के सम्वर का निमित्त पाकर । जीव तो अपने आपके भावों में अपने रागादिक भावों का सम्वरण कर रहा है और कर्म-कर्म में सम्वर कर रहा है, इसी प्रकार निर्जरा जीव में रागादिक झरने का नाम निर्जरा है, वह जीव में हो रहा है, और कर्म में कर्मत्व प्रकृति स्थिति अनुभाग हट रहे हैं यह कर्मों की निर्जरा है और जब मोक्ष हो जाता है तब भी जीव ने कर्मों को नहीं छोड़ा । कर्मों ने जीव को नहीं छोड़ा । यद्यपि दोनों छूट जाते हैं, कर्म अलग हुए, जीव अलग हुआ, परजीव ने वस्तुत्व की दृष्टि से अपने आप में समस्त विकारों को छोड़ा, यही है जीव का मोक्ष, और कार्माणवर्गणाओं में कर्मत्व परिणमन छूट गया, यही है कर्ममोक्ष ।

साधु व श्रावक की स्थिति—भैया ! निश्चय से व्यवहार से प्रमाण से जीवादिक ७ तत्त्वों के सम्बंध में जैसा यथार्थ ज्ञान साधु जनों का होता है वैसा ही ज्ञान गृहस्थों को होता है । श्रद्धान और ज्ञान की अपेक्षा गृहस्थ और तपस्वी समान हैं । हाँ, चारित्र में गृहस्थ के संयमासंयम है और साधुजनों के सकल चारित्र है । जब भव्य जीव इस व्यवहारमोक्षमार्ग को धारण करता है तो उस समय इस भव्य जीव की स्थिति व्यवहारनय का आश्रय करके परिणमनों की होती रहती है और परपदार्थों के प्रत्यय से जो भी परिणमन हुआ उसका प्ररूपक व्यवहारनय है अर्थात् व्यवहारनय भिन्न-भिन्न चीजों को बतलाता है ।

व्यवहाररत्नत्रय में भेदरूपता—जैसे ७ तत्त्वों का श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन है । यहाँ ७ तत्त्व बताया, श्रद्धान करना बताया, एक भेदपरिणमन दिखाया, यह व्यवहारनय का विषय है और अंग और पूर्व का ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है, इसमें भी ज्ञाता और ज्ञानका. विषय ये भिन्न-भिन्न बताया है । यही इसमें व्यवहार अंश है, और ५ महाव्रत, ५ समिति, 3 गुप्तियों का पालन करना यह व्यवहारचारित्र है । यह भी यहाँ भेद करण कर दिया है । निश्चयसम्यग्दर्शन में भेद करण नहीं होता, विपरीत अभिप्रायरहित आत्मा की जो स्वच्छता होती है उसका नाम सम्यग्दर्शन है निश्चय से और इस ही स्वच्छ परिणमन रूप ज्ञातृत्व के रहने का नाम सम्यग्ज्ञान है और ऐसी स्थिति की स्थिरता होने का नाम सम्यक्चारित्र है ।

व्यवहार सम्यग्दर्शन का काल—व्यवहार सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्दर्शन के साथ-साथ भी होता है । जैसे अन्तरङ्ग में जो एक बार सत्य प्रतीति हो गई, परमार्थ परमब्रह्म का प्रत्यय हो गया है तो वह तो हो ही चुका है । भले ही उसके अनुभव में काल का द्वैविध्य हो कि कभी अनुभव हो, कभी न भी हो, किन्तु सम्यग्दर्शन का परिणाम तो सतत रहा करता है और ऐसे सतत निश्चय सम्यग्दर्शन के धारी जीव के जीवादिक तत्त्वों का भी यथार्थ श्रद्धान बना हुआ है और उस प्रकार के वार्तालाप में भी चलते हैं तो व्यवहार सम्यग्दर्शन भी । इसी प्रकार निश्चय सम्यग्ज्ञान के

साथ-साथ व्यवहार सम्यग्ज्ञान भी होता है और एक बार यथार्थ परम स्वरूप का बोध हो गया वह तो फिर हो ही गया । अब उसकी योग्यता मिटती नहीं है । पर प्रयोजनवश व्यवहारिक तत्वों का भी वह ज्ञान करता है । भला जिसको यथार्थतया सम्यक्त्व हो गया वह अविरत अवस्था में या संयमासंयम अवस्था में जब पंचेंद्रिय के विषय में भी वह प्रवर्तन कर लेता है वहाँ भी उपयोग चला जाता है तिस पर भी निश्चय सम्यग्दर्शन है तो व्यवहार सम्यग्ज्ञान के काल में अन्य-अन्य तत्त्वों का ज्ञान करते हुए वह निश्चय ज्योति बनी हो तो इसमें क्या विरोध है? ऐसे ही अंतरंग में स्वरूपाचरण नाम का निश्चय सम्यक्चारित्र, जितने अंशों में इसके चारित्र सम्बन्धी स्वच्छता जगी हो चल रहा है । फिर भी व्यवहार से महाव्रत समितिरूप इसका प्रवर्तन होता है । यों निश्चयरत्नत्रय के साथ ही किन्हीं-किन्हीं जीवों के यह व्यवहाररत्नत्रय पाया जाता है, किन्तु जिसके निश्चयरत्नत्रय तो नहीं है, किन्तु व्यवहाररत्नत्रय का पालन है, यद्यपि वह परमार्थत: मोक्षमार्गी नहीं है, तिस पर भी जैसा व्यवहाररत्नत्रय ज्ञानी जीव के होता है वैसा ही होने के कारण और उस रत्नत्रय में रहने के अनन्तर यह निश्चयरत्नत्रय की प्राप्ति का पात्र हो सकता है, इस कारण वह भी व्यवहार रत्नत्रय है ।

रत्नत्रय में व्यवहाररूपता—मोक्षमार्ग, तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को कहा है । अब उनमें भिन्न साध्य साधन भाव की पद्धति लगे तो वह व्यवहारमोक्षमार्ग है और अभेद पद्धति से रत्नत्रय रहे तो वह निश्चयमोक्षमार्ग है । ये धर्मादिक पदार्थ जिसके द्रव्यत्व, गुणत्व और पर्यायत्व आदिक विकल्प होते हैं, भाव हैं, ऐसा उनका यथार्थ श्रद्धान स्वभाव यथार्थ भाव का श्रद्धान करना सो सम्यग्दर्शन है और तत्वार्थ का यथार्थ श्रद्धान होने पर जो श्रुत अंग पूर्वों का ज्ञान है वह सम्यग्ज्ञान है, और तपस्या में जो उन यतियों की प्रवृत्ति है वह उनकी चर्या है । इस व्यवहाररत्नत्रय के पालन में स्वयं की योग्यता का भी परिणमन और विकास चलता रहता है और ७ तत्व अंगपूर्व महाव्रत आदिक इन परतत्त्वों का भी अर्थात् इन भेदभावों का भी वहाँ प्रत्यय चल रहा है, इस कारण यह व्यवहारमोक्षमार्ग है । जैसे स्वर्णपाषाण में लगी हुई अग्नि पाषाण को और सोने को भिन्न-भिन्न कर देती है इसी प्रकार जीव और पुद्गल की एकता को भिन्न-भिन्न करने वाला यह व्यवहारमोक्षमार्ग है । इस तरह भी कारणता समझिये और इस कारणता से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि जैसे स्वर्णपाषाण में से पाषाणत्व का ढेर इकट्ठा होने पर स्वर्णत्व की प्राप्ति होती है ऐसे ही व्यवहाररत्नत्रय में से व्यवहारत्व के होने पर एक शुद्ध अभेद रत्नत्रय प्रकट होता हे ।

रत्नत्रयविशुद्धि—जो जीव सम्यग्दर्शन आदिक से अन्तरङ्ग में सावधान है उस जीव के सब जगह ऊपर-ऊपर की भूमिकाओं में अर्थात् शुद्ध गुणस्थान में शुद्ध स्वरूप की वृद्धि होती है और अभिन्न विश्राम उत्पन्न होता है । सम्यक्त्व होने पर चतुर्थ गुणस्थान में इस जीव को स्वविश्राम नहीं मिल पाता है । उससे अधिक पंचम गुणस्थान में स्वविश्राम का अवकाश रहता है और छठे, ७वें, ८वें, ९वें में शुद्ध भूमिकाओं में स्वरूप का विश्राम स्थिर हो जाता है । उन गुणस्थानों में स्थिरता को बनाये वह भी व्यवहारमोक्षमार्ग है । निश्चयमोक्षमार्ग तो उत्कृष्ट रूप में परमार्थ से एक स्वरूप है जो वीतराग होने पर प्रकट होता है । उससे पहिले व्यवहारमोक्षमार्ग और निश्चयमोक्षमार्ग में कुछ ऐसी भी दृष्टि जमती है कि जिस वृत्ति को अभी निश्चयमोक्षमार्ग कहा जा रहा है उससे अधिक अभेद और स्थिरता होने

पर भी पूर्वकाल का स्थितिकरण का उद्योग व्यवहारमोक्षमार्ग कहने लगता है ।

भिन्नसाध्यसाधनभाव में व्यवहाररूपता—मोक्ष पद्धति का भेदरूप विस्तार बहुत है और गहन है, किन्तु जिसने एकस्वरूप के अवगम की कला प्राप्त की है उस कलावान सम्यग्ज्ञानी पुरुष को यह सब कुछ भी गहन नहीं है । वह सब स्थितियों में यथार्थस्वरूप का परिचय करनेवाला रहता है । यों भिन्न साध्य-साधन भाव का जब तक प्रवर्तन है तब तक व्यवहारमोक्षमार्ग है और यह व्यवहारमोक्षमार्ग साध्य-साधन भाव का अभाव करने के सम्मुख होता है तो स्वयं सिद्ध स्वभाव से यह जीव परिणमता है वह निश्चयमोक्षमार्ग है । यों निश्चयमोक्षमार्ग का जो साधनभूत है उस व्यवहारमोक्षमार्ग का वर्णन किया ।

गाथा 161

णिच्चयणयेण भणिदो तिहि तेहिं समाहिदो हु जो अप्पा ।
ण कुणदि किंचिवि अण्णं ण मुयदि सो मोक्खमग्गो ।।१६१।।

निश्चय मोक्षमार्ग—निश्चयनय से निश्चयसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान और निश्चयचारित्र से युक्त आत्मा जिस स्वरूप को कहा गया है वह आत्मा अन्य परद्रव्यों को कुछ भी नहीं करता, कुछ भी नहीं छोड़ता, वह तो साक्षात् मोक्षमार्गरूप ही है । करना और छोड़ना—ये दो विकल्प ये दो वृत्तियां भेदभाव में होती हैं । इस ज्ञानमार्ग में बढ़ने पर जीव पर क्या बीतती है वह सब अपने अनुभव से भी आप अंदाज कर सकते हैं । जब हम निश्चयदृष्टि से आत्मा के स्वरूप को सम्हालते हैं तो उस सम्हाल में यही नजर आता है कि यह तो जो है सो है, न कुछ दूर करना है और न कुछ किसी को छोड़ना है । किसी पदार्थ में किसी पदार्थ के स्वरूप का प्रवेश ही नहीं है । प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपमात्र है । यह आत्मा भी अपने ही शुद्ध चैतन्यस्वरूपमात्र है ।

शुद्ध एकत्व का श्रद्धान—निश्चयदृष्टि से यह तका गया है कि निश्चल निजस्वरूपमात्र आत्मा में किसका तो ग्रहण है और किसका त्याग है? श्रद्धान में यह बात पूरी उनके भी रहा करती है जो व्यवहार मोक्षमार्ग में चल रहे हैं, ग्रहण करना और त्यागना ये सब चल रहे हैं । मन, वचन, काय की प्रवृत्ति करना और मन, वचन, काय की प्रवृत्तियों में न जाने देना । इस प्रकार का जिनके यत्न है उनका भी श्रद्धान यही है, पर कोई स्थान ऐसे हैं, कर्मविपाक ऐसे हैं कि जानते हुए भी, श्रद्धान करते हुए भी उस ही रूप रहने का काम नहीं बन रहा है और ऐसी स्थिति में प्रवृत्ति और निवृत्ति चलती है । इतने पर भी श्रद्धान में अन्तर नहीं आता और प्रकटरूप में उपदेश भी ऐसा किया हे कि भाई जो शक्ति है, जो योग्यता है उसे न छुपाकर आचरण में लगो । पर इतना आचरण करते न भी बने तो श्रद्धान से मत डिगो ।

श्रद्धान से विचलित न होने का अनुरोध—जो जीव श्रद्धान से भ्रष्ट हो जाता है उसे भ्रष्ट माना गया है और जो आचरण से भ्रष्ट है वह यद्यपि आचरण से भ्रष्ट है, पर सम्यक्त्व यथार्थ रहने पर उसे भ्रष्ट नहीं कहा गया है, वह पुन: लग सकता है । जैसे लोक में किसी बड़े की आन बनी रहे तो वह उद्दण्ड नहीं कहा जाता है, पर जब आन ही टूट जाय तो उसे उद्दण्ड कहा जाता है । एक ऐसा ही कथानक कहा जाता है कि एक पुरुष ने सेठ से शिकायत की कि तुम्हारा लड़का तो पतित हो गया है, वेश्या के यहाँ जाया करता है । सेठ बोला कि हमारा लड़का अभी

पतित नहीं हुआ है । वह पुरुष बोला चलो तुम्हें दिखायें । ले गया वेश्या के घर के पास तो उस सेठ ने उस वेश्या के घर बैठा हुआ उस लड़के को देख लिया । लड़के ने भी सेठ को देख लिया तो झट उस लड़के ने अपनी अंगुलियों से अपनी आँखों को बंद कर लिया । सेठ इस दृश्य को देखकर उस पुरुष से कहता है कि देखो मेरा लड़का अभी भ्रष्ट नहीं हुआ है । अभी तक हमारे बच्चे में हमारे प्रति आन है, आदर है । जब वह बालक घर आया तो सेठ ने उससे कुछ कहा तो झट वह उस सेठ के चरणों में गिर गया और बोला कि मैंने बड़ी चूक की, अब मैं ऐसा न करूँगा । आन, प्रतीति, आन्तरिक नम्रता हो तो सुधार की असुगमता नहीं है । इसलिए श्रद्धान से कभी डिगना न चाहिए । समन्तभद्रस्वामी को परिस्थितिवश आचार्य ने साधुपद छुड़ाकर किसी भी भेष में रहकर भस्मव्याधि मिटाने का हुक्म दिया था । और किया भी था, परन्तु उनका श्रद्धान ज्यों का त्यों था, कुछ भी अन्तर न था । उनका श्रद्धान दृढ़ रहा । और उस सम्यक्त्व के प्रताप से जो चमत्कार हुआ वह साधु होने के बाद सबको विदित है । तो कुछ करते बन रहा तब, नहीं करते बन रहा तब, सम्यक्त्व श्रद्धान यथार्थ बनाये रहें और अपनी शक्ति' न छिपाकर उसके अनुरूप आचरण करने में प्रयत्नशील रहे, यही एक करने का काम है ।

निश्चयमोक्षमार्ग का उद्भव—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र से युक्त आत्मा ही निश्चय से मोक्ष का मार्ग है, क्योंकि वहाँ रत्नत्रय की स्थिति में जीव के स्वभाव में नियत होने रूप चारित्र पाया जाता है । यह जीव किसी भी प्रकार अनादिकालीन अविद्या का विनाश होने से व्यवहारमोक्षमार्ग को प्राप्त होता है । धर्मादिक तत्त्वार्थों के श्रद्धान और अंग पूर्वों के ज्ञान तथा तपस्यावों में प्रवृत्ति के होने रूप चारित्र का तो ग्रहण हुआ, ग्रहण के लिए व्यापार हुआ और धर्मादिक तत्त्वों के श्रद्धान न होने आदिरूप जो मिथ्यादर्शन ज्ञान चारित्र है उसके त्याग के लिए व्यापार हुआ और अब उस ही उपादेयभूत पदार्थ के ग्रहण में और त्याज्य पदार्थ के परिहार में बार-बार चलने का अभिप्राय चला । सो जितने काल में यह जीव उस ही आत्मस्वभाव की भावना के प्रताप से जब स्वभावभूत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र के साथ अंगअंगीरूप परिणमन करके और फिर अभेदरूप परिणमन करके उस रत्नत्रय से युक्त होता है उस ही काल में यह जीव निश्चय से मोक्षमार्गी कहा जाता है ।

अद्वैतरूपता—छूटना है जीवको, और छूटने का जो उद्यम है वह भी होता है जीव में। तो जीव ही स्वयं मोक्षस्वरूप है और जीव ही मोक्ष का मार्ग है । जब यह जीव रत्नत्रय से युक्त होता है तो मोक्षमार्गी है और जब समस्त दोषों से छूट जाता है तब वही मोक्षस्वरूप है । निश्चयमोक्षमार्ग में और व्यवहारमोक्षमार्ग में परस्पर साध्यसाधन भाव हे । निश्चयमोक्षमार्ग का लक्षण है निश्चय शुद्ध आत्मतत्त्व की रुचि होना और उस ही सहज शुद्ध अंतस्तत्त्व का परिज्ञान होना और उस ही निश्चलरूप से अनुभव होना उसका साधन है व्यवहारमोक्षमार्ग । उस व्यवहारमोक्षमार्ग में गुणस्थान के क्रम से विशुद्ध परिणाम होता हुआ यह जीव जब कहीं आगे सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र में अभेदरूप परिणत होता है तब वह आत्मा ही निश्चयमोक्षमार्ग कहलाने लगता है ।

मोक्षपथ का विकास—गुणस्थान सब मोक्षमार्ग हैं चतुर्थ से लेकर ऊपर तक के । १४वें गुणस्थान भी मोक्षमार्ग है । मोक्ष तो गुणस्थान से अतीत है । अब समझ लीजिए कि मोक्षमार्ग की कितनी स्थितियाँ हो जाती हैं, डिग्रियाँ हो जाती हैं और चतुर्थ गुणस्थान सम्बंधी मोक्षमार्ग प्रकट हो उससे पहिले जो विचार चलता है, ज्ञान चलता है,

यद्यपि सम्यक्त्व का वहाँ अभाव है, फिर भी वह ज्ञान यथार्थ है, जैसे कि वह सम्यक्त्व के होने पर जानेगा वैसे ही सम्यक्त्व से पहिले भी यह सम्यक्त्व का उन्मुख जीव जानता है । बस अन्तर इतना रहता है कि सम्यक्त्व के अभाव में वह ज्ञान सम्यक्त्व के सद्भाव में होने वाले ज्ञान जैसा खुद में विशद नहीं है, इस कारण पूर्व ज्ञान को सम्यग्ज्ञान नहीं कहा ।

विकास से पूर्वस्थिति की विशेषता का उदाहरण—जैसे कोई वर्णन नक्शे द्वारा पैमाइश द्वारा जाना जाय, जैसे किसी देश का वर्णन, नदी का वर्णन, महल का वर्णन कुछ नक्शों से जाना, उसकी लम्बाई, चौड़ाई विस्तार भी नक्शे से जाना अथवा किसी ने बताया एक तो वह ज्ञान और एक उसी मौके पर जाकर उस सबको देखे एक वह ज्ञान । यद्यपि मौके से पहिले वाला ज्ञान वही वैसा ही था जैसा कि मौके पर जाकर देखा, लेकिन मौके पर जाकर देखने से होने वाले विशद ज्ञान की तरह यह पहिले वाला ज्ञान विशद नहीं है । तब न सही विशद, पर ज्ञान तो वहाँ ही हुआ ना, और उस ही ज्ञान के सहारे से बढ़कर इसे सानुभव ज्ञान बना, यों बिना निश्चय सम्यक्त्व के भी इसे व्यवहारमोक्षमार्ग कहा गया है । स्वरूपदृष्टि से देखो तो सम्यक्त्व जगे बिना मोक्षमार्ग नहीं कहलायेगा, पर साधन तो वह भी है । वह भी व्यवहारमोक्षमार्ग है । तो यों यह व्यवहारमोक्षमार्ग निश्चयमोक्षमार्ग का साधन बनता है ।

व्यवहारमोक्षमार्ग का उपकार—यहाँ व्यवहारमोक्षमार्ग के साधन द्वारा निश्चय मोक्षमार्ग का वर्णन करते हुए यह बात बतायी गई है कि उन रत्नत्रयों से युक्त अथवा निश्चय से न तो किसी अन्य को ग्रहण करता है और न किसी अन्य को छोड़ता है । ऐसी स्थिति जब उपयोगरूप से भी हो जाती है तब वह निश्चयमोक्षमार्ग कहलाता है और श्रद्धा में तो यह स्थिति बनी है पर को न करने, पर को न छोड़ने के स्वभाव वाले निज चैतन्यस्वभाव की श्रद्धा बनी है, पर उपयोग इस तरह परिणत नहीं हो पा रहा था, अतएव तत्त्वार्थ श्रद्धान पदार्थ का विविध ज्ञान और व्रत आदिक रूप प्रवृत्ति हुई थी वह है व्यवहारमोक्षमार्ग । इस प्रकरण से हम आपको इस कर्तव्य की शिक्षा मिलती है कि हम मूल में ऐसा, हीं ज्ञान बनायें कि यह मैं आत्मा मैं ही हूँ, न यह पर का करने वाला है और न पर का त्यागने वाला है । यह है अपने स्वरूप और अपने स्वरूप परिणमता रहता है । इस प्रकार केवल एक निज स्वरूप को देखने का काम ही वास्तविक पुरुषार्थ है और इस ही पुरुषार्थ से उद्धार है, दुर्लभ नरजीवन की सफलता है।

गाथा 162

जो चरदि णादि णिच्छदि अप्पाणं अप्पणा अणण्णमयं ।
सो चारित्तं णाणं दंसणमिदि णिच्चदो होदि ।।१६२।।

सहजस्वभाव का अवलम्बन—जो पुरुष अपने आत्मस्वरूप से अपने आत्मा को अपनी गुण पर्यायों से अभेदरूप आचरण करता है, जानता है, श्रद्धान करता है वह पुरुष चारित्र है, ज्ञान है, दर्शन है, इस प्रकार निश्चय से स्वयं दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप होता है । प्रत्येक पदार्थ अद्वैत है, जो वह है वह ही स्वयं है । प्रत्येक समय वे पदार्थ परिणमते रहते हैं, अतएव प्रत्येक पदार्थ का परिणमन भी अद्वैत है । जो वह है वह ही स्वयं है और प्रतिसमय वह परिणमता रहता है, अतएव उसका समय-समय का प्रत्येक परिणमन भी अद्वैत हैं । यों जो कुछ भी सत् है वह अद्वैत है और

उसका प्रत्येक समय का परिणमन भी अद्वैत है । उस परिणमन को उस द्रव्य से जुदा नहीं किया जा सकता, और वह परिणमन उस द्रव्य का है इस प्रकार भेद भी नहीं डाला जा सकता है । है वह, और है का निर्माण ही इस तरह है कि वह होता रहे तब वह है है। न होता रहे तो वह है नहीं हो सकता ।

सत्त्व के अर्थ का मर्म—सत्त्व का मर्म बताने वाला एक व्याकरण का प्रसंग है । व्याकरण में ''होता है'' की धातु है 'भू धातु—भवति ।'' इसका अर्थ है ''होता है''। किन्तु भू का शुद्ध अर्थ क्या हैं? तो बताया है भू सत्तायां । भू का अर्थ सत्ता है । हिन्दी में कहते हैं—होता है और यथार्थ अर्थ है सत् होना । तब पूछा कि सत्ता किस शब्द से बना है, किस धातु से बना है? वह बना है अस् धातु से । जिसका रूप चलता है अस्ति । तो अस्ति का लोक में प्रसिद्ध अर्थ है 'है' लेकिन अस् धातु का भी व्याकरण में अर्थ क्या किया है? अस् भुवि । अस् धातु का अर्थ भू कर दिया और भू धातु का अर्थ अस् कर दिया । इसका अर्थ क्या है कि होना और सत् रहना—इन दोनों का इतना घनिष्ट अविनाभावी सम्बंध है कि अस् के बिना भू नहीं रह सकता व भू के बिना अस् नहीं रह सकता । भू का अर्थ अस् में पड़ा है, अस् का अर्थ भू में पड़ा है । यहाँ दो बातों को सिद्ध करते है कि उत्पाद व्यय ध्रौव्य में पड़ा है और ध्रौव्य उत्पाद व्यय में पड़ा है ।

वस्तु की निरख—अब सोचिये—हम वस्तु को किस निगाह से निरखें? 'है' यों है । इसके सिवाय हम पदार्थ में और कुछ बोलें तो यों समझिये कि हम पदार्थ के टुकड़े-टुकड़े कर रहे हैं, उसे छेद भेद रहे हैं । जैसे किसी पदार्थ का छेद भेद टुकड़ा करें तो उसे लोग तोड़ फोड़ कहा करते हैं, ऐसे ही पदार्थ का विवरण करते हुए हम उसका गुण बतायें, उसका परिणमन बतायें और गुण भी अनन्त बता रहे, उसका विश्लेषण भी कह रहे तो बात तो हम विस्तारपूर्वक यों कह रहे हैं कि वस्तु का सही ज्ञान बन जाय, पर कहने में तो हम तोड़ मरोड़ कर रहे हैं और चाहते यह हैं कि यथार्थ वस्तु का ज्ञान हो जाय । यों देखा जाय तो कुछ थोड़ा हम उस लक्ष्य से कुछ पंक्ति में पीछे रूप बात बना रहे हैं, लेकिन निश्चय का प्रतिपक्ष यह व्यवहार है, उसका साधक है, बाधक नहीं है ।

निश्चयस्वरूप—निश्चय के समक्ष यह व्यवहार उल्टी बात कह रहा है, तिस पर भी यह व्यवहार निश्चय का साधक है । उस समय यह आत्मा दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप कहा जाता है, जब कि व्यवहारदृष्टि प्रधान है । निश्चयदृष्टि में यह है और यों ही ज्ञान में आ गया । जो आत्मा अपने ही द्वारा अपने ही आप में आत्मामय होने के कारण अपने को अभिन्नरूप आचरण करता है, अपने में परिणमन करता है, स्वभाव में नियत जो एक अस्तित्व है उस रूप वर्तता है, आत्मा को ही जानता है और अपने आपका प्रकाश करे इस प्रकार से चेतता है, अपने आपके ही द्वारा देखता है । तो आत्मा स्वयं ही चारित्र ज्ञान और दर्शन रूप है ।

अस्तित्व का दार्शनिक प्ररूप—अस्तित्व का दार्शनिक अर्थ है उत्पादव्यय ध्रौव्यमय अस्तित्व से निवृत्त होना । कोई भी अस्तित्व उत्पादव्यय ध्रौव्य से सूना नहीं होता । उत्पाद का अर्थ है बनना, व्यय का अर्थ है बिगड़ना और ध्रौव्य का अर्थ है बना रहना । कोई पदार्थ बने नहीं, बिगड़े नहीं और बना रहे, ऐसा नहीं होता । कोई पदार्थ बिगड़े नहीं, बने और बना रहे ऐसा भी नहीं होता । कोई पदार्थ बना तो न रहे, किन्तु बने और बिगड़े ऐसा भी नहीं होता । बनना, बिगड़ना, बना रहना ये—तीनों अविनाभावी हैं और एक ही समय में हैं । ऐसा भी नहीं है कि अमुक पदार्थ

अभी बन रहा है तो बिगड़ेगा इसके बाद और बना था पहिले या आगे पीछे । ये तीनों ही तत्त्व पदार्थ में एक साथ होते हैं ।

उत्पाद व्यय ध्रौव्य की अविनाभाविता पर दृष्टान्त—जैसे सीधी अंगुली है और वह एकदम दूसरे ही समय में टेढ़ी हो गई तो दूसरे समय में वह अंगुली बने, बिगड़े, बनी रहे—ये तीन बातें एक साथ हैं । टेढ़ी तो बनी, सीधी बिगड़ी और अंगुली बनी रही । यदि ऐसा हो बैठे कि पहिले टेढ़ी यह कहे कि मुझे बन लेने दो, तुम पीछे बिगड़ना तो वह टेढ़ी हो ही न सकेगी । सीधी बिगड़ने के साथ ही टेढ़ी बनी हुई है या यह सीधी कहे कि पहिले मुझे बिगड़ लेने दो फिर तुम बनना, तो यह भी नहीं हो सकता कि पहिले सीधी बिगड़ ले उसके बाद वह टेढ़ी बने । यदि तब टेढ़ी न बने तो सीधी बिगड़ भी नहीं सकती । यों सब पदार्थो में प्रतिसमय बनना, बिगड़ना और बना रहना होता ही रहता है । चाहे शुद्ध जीव हो, चाहे अशुद्ध जीव हो, अथवा अजीव पदार्थ हो, मूर्त अमूर्त हो । सभी पदार्थ प्रतिसमय बनते हैं, बिगड़ते हैं और बने रहते हैं । यह है पदार्थ का स्वरूप ।

हित के स्वाधीन उपाय की ऐषणा—भैया ! हम भी प्रतिसमय दूसरे का सहारा लिये बिना अपने आपके अस्तित्व के कारण प्रतिसमय बनते हैं, बिगड़ते हैं और बने रहते हैं, ऐसे ही अन्य समस्त पदार्थ । अब बतलावो कि किसी एक पदार्थ से किसी दूसरे पदार्थ का सम्बंध है कैसे? जब कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थ में अपना बना रहना नहीं दे सकता, अपना बनना नहीं दे सकता, अपना बिगड़ना नहीं दे सकता तो अब चौथा कौनसा रास्ता आप बनायेंगे? यों प्रत्येक पदार्थ अन्य समस्त पदार्थों से अत्यन्त जुदा है । न कभी किसी का स्वरूप किसी दूसरे में गया, न जायगा, न जा रहा है । यों प्रत्येक पदार्थ का स्वरूप निरखकर जो भव्य जीव सहज ही परपदार्थों से उपेक्षा कर लेता है और इस सहज उपेक्षा के कारण निज में सहज विश्राम कर लेता है उस जीव के सम्यक्त्व का अनुभव होता है । शान्ति के लिए इस जीव ने अनेकानेक उपाय किये, किन्तु यह सुगम स्वाधीन उपाय इस जीव ने नहीं किया । इस ही उपाय को करने का यत्न होना चाहिए ।

भोगरमण का परिणाम—कुटुम्ब में वैभव में इनमें मौज मानने रमने का फल बहुत विकट भोगना पड़ेगा । ये आसान लग रहे हैं परपदार्थों के संयोग भोग, लेकिन ये बड़े महंगे पड़ेंगे । जैसे लोग कहते हैं कि सस्ता रोवे बार-बार, महंगा रोवे एक बार । कोई चीज आप खरीदते हैं, सस्ती जानकर खरीदते हैं तो आप उससे बार-बार अड़चन पाते रहते हैं । जैसे कोई पुरानी मोटर खरीद लाये तो उसमें बार-बार झंझट पड़ता है, रोज-रोज उसमें हैरानी रहती है व कुछ न कुछ खर्च लगा रहता है, किन्तु एक बार कोई महंगी नई मोटर ले आया तो उसमें झंझट नहीं पड़ता । एक मोटी बात कही है । ये संसार के सुख बड़े सस्ते लग रहे हैं और पुराने भी हैं, अनन्तकाल से भोगते चले आए हैं । ऐसे ही ये सुख सस्ते हैं, पुराने हैं जीर्ण-शीर्ण हैं आसान लग रहे हैं किन्तु इनका फल बड़ा महंगा पड़ेगा, क्योंकि इनमें अपराध बना है परदृष्टि का । इन सांसारिक सुखों के भोग में माध्यम है परदृष्टि । पर की ओर जो दृष्टि बनाया है, अपने आपका आश्रय छोड़ दिया, पर की ओर का झुकाव बना लिया केवल दृष्टि में, उपयोग में तो ऐसे उपयोग में प्रकृत्या विह्वलता का ग्रहण होता है, वहाँ शान्ति और सन्तोष नहीं हो सकता।

आत्मस्पर्शन का महत्व—यह आत्मदर्शन, आत्मज्ञान, आत्मआचरण है तो वास्तव में सुगम स्वाधीन सहज, लेकिन

यह आज तक स्थिति बनी नहीं, इसलिए बड़ा महंगा मालूम हो रहा है, कठिन मालूम हो रहा है, लेकिन इस समय लग रहे, इस महंगे काम को एक बार कर तो डालो, फिर अनन्तकाल के लिए झंझट समाप्त हो जायेंगे । यह काम लग रहा है महंगा, किन्तु इसके निकट जाने पर यह सब बहुत आसान लगने लगता है । तो यों परद्रव्यों से उपेक्षा करके अपने अंतस्तत्व में विश्राम करके जो एक सहज अनाकुलतारूप आल्हाद का अनुभव होता है उस अनुभव से परिणत आत्मा निश्चयमोक्षमार्ग है । इस स्थिति में कर्ता, कर्म और करण का भेद नहीं रहा, उसकी दृष्टि में नहीं रहा । भेद तो कभी होता ही नहीं, पर जो न माने उनके लिए भेद है, जो मान जायें निजस्वरूप को उनके लिए भेद नहीं है । यह जीव जो कुछ भी रहता है वह वहाँ अभेदरूप से ही रहता है, पर इस अद्वैतस्वरूप का जब आश्रय त्याग देता है तब भेद ही भेद नजर आता हैं ।

अभेदानुभव की शरण्यता—अभेदरूप रहते हुए, अभेद काम करते हुए भी अज्ञानी जीव चूंकि अपनी दृष्टि में भेदरूप चल रहे हैं, अतएव वे निर्धन हैं । जैसे कोई पुरुष अपने घर की जमीन के भीतर गड़ी हुई लाखों की सम्पत्ति से अपरिचित है, कुछ ख्याल ही नहीं है, कुछ अनुमान ही नहीं है, और वह जिस किसी प्रकार से सूखी रोटियों का सेजा लगाकर पेट पालता है । वह तो अपनी दृष्टि में गरीब है, भले ही उसके घर के भीतर लाखों का वैभव पड़ा है, लेकिन वह तो दीन ही बना हुआ है । यह एक मोटी बात कही है । यों ही आत्मा में अनन्त समृद्धि का वैभव है अभेदरूप, यह स्वयं अद्वैतरूप है, लेकिन इसका जिसे परिचय नहीं है वह तो दृष्टि से भेदरूप बन रहा है । जब दृष्टि भी अभेदस्वरूप को अंगीकार करने की बन जाय उस समय यह जीव निश्चयमोक्षमार्गी होता है । वह आत्मा चारित्र ज्ञान दर्शनस्वरूप है । जीव के केवल शुद्ध चैतन्य स्वभाव में नियत है, वह निश्चयमोक्षमार्गी है । हमें यथासम्भव प्रयत्नों से इस शुद्ध निर्विकार निर्विकल्प ज्योति के अनुभव में आना है, यही हम आपका वास्तविक शरण है ।

गाथा 163

जेण विजाणदि सव्बं पेच्छदि सो तेण सोक्खमणुहवदि ।
इदि तं जाणदि भविओ अभव्बसत्तो ण सद्दहदि ।।१६३।।

भव्य का श्रद्धान—जिस कारण से यह आत्मा समस्त वस्तुवों को जानता है और सब ही को देखता है, अतएव वह अनाकुल अनन्त अमूर्त सुख का अनुभव करता है, इस प्रकार यह निकट भव्य जीव उस अनाकुल पारमार्थिक आनन्द को जानता है, उपादेयरूप से मानता है । इस प्रकार अनाकुल सुख को जो जानते हैं वे तो निकट भव्य हे और निकट काल में वे मोक्ष को प्राप्त करेंगे, लेकिन जो इस प्रकार अभी नहीं जान रहे, उनमें भी ऐसी मोक्ष पाने की योग्यता भले ही हो, किन्तु वे अभी सुभवितव्यता से दूर हैं और जो अभव्य जीव हैं उनमें ऐसी मोक्ष पर्याय के व्यक्त होने की योग्यता ही नहीं है वे शुद्धात्मा के अनन्तसुख का परिचय भी नहीं कर सकते ।

सकल जीवों में स्वरूपसाम्य—भैया ! भव्यत्व और अभव्यत्व का अन्तर होने पर भी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की शक्ति सभी जीवों में है । चाहे भव्य हों और चाहे अभव्य हों । यदि अभव्य में केवलज्ञानादिक की शक्ति न मानी जाय, स्वभाव न माना जाय तो फिर केवलज्ञानावरण नाम किस बात का? केवलज्ञानावरण उसे

कहते हैं जो केवलज्ञान को प्रकट न होने दे, केवलज्ञान का आवरण करे । जिस अभव्य में केवलज्ञान की शक्ति ही नहीं है स्वभाव ही नहीं है तो केवलज्ञानावरण प्रकृति क्यों बनेगी । जैसे इन खम्भा, चौकी आदिक जड़ पदार्थों में क्या वह ज्ञानावरण है? तो केवलज्ञान का स्वभाव प्रत्येक जीव में है । वह तो जीव का स्वरूप है । हाँ केवलज्ञान प्रकट होने की शक्ति अभव्य में नहीं है अथवा यों कहिये जिनमें केवलज्ञान प्रकट होने की शक्ति नहीं है वे अभव्य हैं । केवलज्ञान की तो शक्ति है अभव्य में, पर केवलज्ञान के प्रकट होने की शक्ति नहीं है । इन दो बातों में अंतर है । जैसे दृष्टान्त दिया जाता है बंध्या स्त्री का । जिसे लोग बंध्य स्त्री कहते हैं, उसमें यद्यपि संतान होने की शक्ति है पर संतान होने की शक्ति प्रकट होने की शुक्ति नहीं है । यदि संतान होने की शक्ति न मानी जाय तो उसका नाम स्त्री ही नहीं हो सकता । ऐसे ही यदि केवलज्ञान की शक्ति अभव्य में न मानी जाय तो वह जीव ही नहीं कहला सकता । वह तो जीव का सहजस्वरूप है । हाँ केवलज्ञान शक्ति के व्यक्त होने की शक्ति अभव्य में नहीं है ।

द्रव्यों में साधारणासाधारणगुणरूपता—यदि रंच भी फर्क आया किसी द्रव्य का किसी द्रव्य के साथ मूल में तो वे एक जाति के न कहलायेंगे, दो जाति के हो जायेंगे । यदि ऐसा असीम ज्ञान शक्तिस्वरूप स्वभाव अभव्य में न हो तो द्रव्य ६ के बजाय ७ कहना चाहिए—भव्य जीव, अभव्य जीव, पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल । उन दोनों को एक जीव जाति में नहीं रख सकते । जो साधारण स्वरूप में पूर्ण समान होता है वह ही उस द्रव्य में आया करता है ।

जीव में ज्ञान और सुख का स्वभाव व अविनाभाव—जीव में समस्त ज्ञेयों के जानने का स्वभाव है और समस्त ज्ञेयों के अवलोकन का स्वभाव है । यह स्वभाव जिसके व्यक्त हुआ है अर्थात् समस्त ज्ञेयो को जानता-देखता है वह अद्‌भुत अनुपम आत्मीय शाश्वत आनन्द का अनुभव करता है । जैसे प्रभु के ज्ञान और दर्शन असीम बन गए तो उसके साथ ही आनन्द भी असीम बन गया । कुछ-कुछ हम आप भी अंदाज करते हैं कि सुख की दौड़ ज्ञान की दौड़ के साथ-साथ लगी रहती है । जिसका ज्ञान दर्शन असीम है और असीम होता है मोह के अभाव कारण तो उनका आनन्द भी असीम है ।

आनन्द का यत्न—संसारीजन आनन्द पाने के लिए कोशिश तो किया करते हैं, पर कोशिश उल्टी चलती है । मोह रागद्वेष से ज्ञान पर आवरण होता है और मोह रागद्वेष से ही आनन्द का विघात होता है । किन्तु संसारीजन आनन्द की उपलब्धि के लिए मोह रागद्वेष की ही प्रवृत्ति करते हैं । तो जैसे खून का दाग खून से नहीं धुला करता ऐसे ही मोह रागद्वेष से उत्पन्न हुआ कष्ट मोह रागद्वेष से कभी मिट नही सकता । आनन्द की उपलब्धि का उपाय ऐसा ज्ञानप्रकाश कर लेना है जिस ज्ञानप्रकाश के कारण मिथ्या आशय अथवा परवस्तुवों में प्रीति अप्रीति का परिणाम न ठहर सके । इस उपाय के सिवाय अन्य कोई उपाय है ही नहीं शान्ति पाने का । ऐसा जिसका ठोस निर्णय होगा वही धर्मपालन करने का पात्र है अन्यथा धर्म के नाम पर कैसी ही मन, वचन, काय की चेष्टाएँ कर ली जायें, जब उसका मर्मभूत अन्तरंग ही नहीं है तो धर्म नाम किसका है?

विपरीत वृत्ति में धर्म का अलाभ—जैसे चावलरहित धान के छिलकों को खरीदकर कोई लाभ नहीं पाया जा सकता है । हो उसमें भी लाभ है । धान के छिलके भी बिकते होंगे । लेकिन चावलों के भाव में कोई धान के छिलके खरीद ले तो उसमें सारा नुक्सान है । ऐसे ही धर्म के नाम पर कोई व्यवहार क्रियाएँ कर ले और धर्म की बात वहाँ है नहीं, निष्कषाय, निस्तरंग जो आत्मा का शुद्ध ज्ञानप्रकाश है वह मेरा स्वरूप है, जो समस्त पर से न्यारा है और अपने सहज सत्त्व के कारण प्रबल है, समर्थ है, शाश्वत है, ऐसे निज अंतस्तत्त्व की जिन्हें सुध नहीं होती और धर्म के नाम पर व्यवहार क्रियाएँ करें, मनचाही धर्म की चेष्टाएँ करें तो लाभ तो नहीं हो सकता । हाँ मन, वचन, काय की शुभ प्रवृत्ति करे तो उससे लाभ है, पर वह लाभ उतना ही लाभ है जैसा कि भुस और छिलके के भाव में भुस छिलका लेने से जो लाभ है उतना ही लाभ है । यह कोई लाभ नहीं है, मोक्षमार्ग का लाभ नहीं है । कुछ पुण्य बँध जायगा, थोड़ी विभूति मिल जायगी । वहीं संसार का जन्ममरण लगा रहेगा ।

एकत्व का आदर—जिस पुरुष ने अपने आपके स्वरूप को समझा है, यह मैं आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूँ, सबसे न्यारा हूँ वही जन्ममरण के चक्र से निवृत्त हो सकता है । मरने पर तो कोई जाता ही नहीं, यह तो प्रकट ही दिखता है । जन्म के समय कोई साथ आया नहीं, यह भी प्रकट दिखता है । जीवन में कोई विपदा आ जाने पर वहाँ भी कोई साथ नहीं निभाता, यह भी प्रकट दिखता है । जरा और अन्त: प्रवेश करके स्पष्ट निर्णय कर लो कि यह जीव अपनी सब परिस्थिति में सदा अकेला ही है । ऐसा अकेला रहना दोष की बात नहीं है, गुण की बात है । अकेला रहना कोई खराब नहीं है, अच्छा ही है । जो केवल अकेला रह जाता है उसका नाम है भगवान । अकेला होना बुरा नहीं है ।

एकत्व के आदर के लाभ की एक घटना—जब चिरोंजाबाई जी, जिन्होंने बड़े वर्णी जी को पढ़ाया, १४ वर्ष की उम्र में विधवा हो गयी थी । गिरनार की यात्रा में सब लोग गए हुए थे, उस यात्रा में ही पति गुजर गया । जल्दी घर आयीं, वहाँ लोग लुगाई सब घर आये तो उन्हें बहुत बुरा लगे । तो कभी उपवास कर ले आज हमारा उपवास है । आज हम मिलेगी नहीं । कुछ यों दिन काटे । इससे पहिले तुरन्त वियोग के समय चित्त में आया था कि कुवें में गिरकर मर जाये, अभी छोटी उम्र है, कैसे जीवन कटेगा? फिर सोचा कि गिरी तो सही मगर न मरी तो उससे भी कई गुना कष्ट होगा । खैर घर आयीं, यों उपवास में कुछ समय बिताया और सोचा खैर अकेली रह गयी हैं तो यह कुछ बुरा नहीं है, अनेक झंझटों से बची, पति की परतंत्रता से बची, बाल बच्चों के व्यर्थ के झंझटों से बची । अच्छा है । ज्ञानार्जन में चित्त दिया और उन्होंने जो वास्तविक आनन्द लिया वह सबको विदित है, ऐसी धर्ममूर्ति थी चिरोंजा बाई जी, जिनकी, सानी की उनके समय में महिला नहीं थी । बड़े-बड़े लोग जो धर्म-मर्म में चकरा जाये, उसे यों ही सहज चलते-चलते सुलझा देती थीं । तो अकेला होना कहाँ बुरा है?

समागम में भी एकत्वप्रतीति से शान्ति—भैया ! समागम भी मिला हो भरपूर तो वहाँ भी अकेला मानना भला है । बड़े भरपूर समागम में रहकर जो अपने को अकेला नहीं समझ सकता है, मेरे बहुत से लोग हैं इस तरह की भ्रमबुद्धि बनाए है तो वहाँ पद-पद पर दूसरों की जरा-जरासी चेष्टा पर उसे खेद होने लगता है । आपने देखा

होगा किसी अपरिचित स्थान में किसी अपरिचित व्यक्ति द्वारा कोई आपको कष्ट पहुंचे तो आप उतना बुरा नहीं मानते । आप में वहाँ सामर्थ्य रहेगी कि मैं कष्ट को सह लूं, पर आप व्याकुल न होगे और किसी परिचित जगह में कोई परिचित पुरुष आपको विशेष कष्ट भी नहीं पहुँचा रहा, किन्तु जरासी कोई बात कह दे, इतने पर आप विह्वल हो सकते हैं । यह अंतर किस बात का आय।? वहाँ अपरिचित जगह में अपरिचित के सामने आप अपने को अकेला समझ रहे थे । जब अकेला समझ रहे थे तब कष्ट न था । यहाँ परिचित स्थान में परिचितों के बीच आप अपने को अकेला अनुभव नहीं कर रहे, इस कारण जरा-जरासी बातपर विह्वलता हो जाया करती है । यह तो एक गुण है । जिसे शान्ति पाना हो किसी भी स्थिति में कितना भी समागम हो, सर्व समागमों में आप अपने को अकेला अनुभवें।

एकत्वदर्शन का प्रताप—योगी जन जंगल के बीच वर्षों तक प्रसन्न रहा करते हैं, उनके अद्‌भुत आनन्द जग रहा करता है । वह आनन्द और किस बात का है? वे अपने को सदा अकेला मान रहे हैं । अकेला मानने में जो आनन्द है वह आनन्द समागम में नहीं है । समागम में रहकर भी अकेले की श्रद्धा हो तो वहाँ भी अन्त: आनन्द रह सकता है और इस अकेलेपन को मानने का चमत्कार भी निरखिये । जो इस एकत्व का आदर करता है वह अपने अकेलेपन को ही अपनाता है । उसके ऐसा असीम ज्ञान प्रकट होता है कि तीन लोक तीन कल के समस्त ज्ञेय पदार्थ उसके जानने में आ जाते हैं अर्थात् अकेला अनुभव करता है, वह सर्वज्ञ बन जाता है । जो अपने को अकेला अनुभव न करके कुटुम्ब वाला, देह वाला, धन वाला अनेकरूप अपने को मानता है वह संसार में रुलता है । छुटपुट ज्ञान और सुख मिल गए, इनमें ही राजी रहकर सुख को भोगते रहते हैं । प्रभु समस्त ज्ञेय को जानते देखते हैं, इस कारण विशुद्ध आनन्द का अनुभव करते हैं और जो निकट भव्य जीव केवल इस एक अकेले को ही जानते देखते हैं वे भी आनन्द का अनुभव करेंगे ।

एक बराबर सबका अध्यात्मदर्शन—देखो भैया ! एक बराबर सब । कितनी विलक्षण गणित है? सब कुछ कितना बराबर है? इस एक बराबर । इसे कोई मानेगा क्या? न्याय की ज्ञान की तराजू पर एक पलड़े पर तो निज रख दो और एक पलड़े पर अनन्तानन्त जीव, पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल उनकी भूतकालीन पर्यायें, भविष्यकालीन पर्यायें सब कुछ रख दो, और फिर भी बराबर कहलाये इसे कोई मान सकता है क्या? जाननहार लोग मान सकते हैं । प्रवचनसार में तो यह स्पष्ट कहा भी है कि जो एक को जानता है वह सबको जानता है, जो सबको जानता है वह एक को जानता है, इसका भी भाव इस रूप में निरखिये । प्रभु सर्वज्ञदेव अरहंत सिद्ध भगवान किसको जान रहे हैं? एक को जान रहे कि सबको जान रहे । एक को भी जान रहे, सबको भी जान रहे । तो क्या उस एक को और सबको यों ही समान कक्ष में रखे हुए के ढंग से जान रहे हैं प्रभु सर्वज्ञ नहीं । एक को जानते उर्फ सबको जानते । सबको जानने से मतलब एक को जानना । इस ढंग से जान रहे हैं, कहीं इस तरह नहीं कि किसी ने ११ चीजें जानी तो १० बाहर की भी जानी और एक अन्तर की भी जानी । यों नहीं । सर्वज्ञेयग्रहणात्मक उपयोगमय अपने को प्रभु जानते रहते हैं ।

परिणमनपद्धति—प्रभु सर्वज्ञ देव अपने ही प्रदेशों में हैं । जैसे आपका जीव आपके प्रदेशों में है, आप जो कुछ

भी कर सकते हैं वह अपने ही प्रदेशों में कर सकते हैं, किसी पर में नहीं कर सकते । किसी पर को आप हुक्म दें, सुधार करें, बिगाड़ करें वहाँ भी आप जो कुछ कर रहे हैं वह अपने को कर रहे हैं, अपने में कर रहे हैं, आपकी कोई परिणति किसी दूसरे पदार्थ में नहीं बन रही । तो भगवान सर्वज्ञदेव भी जो कुछ कर रहे होंगे वह अपने ही प्रदेशों में कर रहे हैं। क्या कर रहे है? उनका ज्ञान किस प्रकार परिणम रहा है? परिणम रहा है उनके आत्मा में ही, पर सर्वज्ञेय ग्रहण रूप परिणम रहा है तो समस्त ज्ञेयों के जाननरूप परिणमन से परिणमते हुए केवल अपने आपको ही भगवान ने जाना, एक ही को जाना। उसमें सबका जानना आ गया।

ज्ञान में ज्ञेयाकारता का स्वभाव—युक्ति से भी विचारिये—उस ज्ञान का स्वरूप क्या जो ज्ञेय को जानता हो? भगवान के केवलज्ञान का और स्वरूप क्या? यदि वह ज्ञेय को जानता न हो। ज्ञेय का जानना ही तो ज्ञान का स्वरूप बन रहा है। तो उस समस्त ज्ञेय का जानन हुआ तब खुद का भी जानना हुआ। और यहाँ हम आप लोगों के लिए यद्यपि हम सबको नहीं जान रहे हैं। जितना क्षायोपशमिक ज्ञान है उतना ही हम उन पदार्थों को जान रहे हैं। लेकिन हम इन पदार्थों पर दृष्टि न डालकर केवल अपने सहजस्वरूप को जानें तो इस एक को भी जानने का वह चमत्कार होगा कि समस्त ज्ञेय इसके जानने में आयेंगे। जिस जीव के सब कुछ जानने में पड़ा है उसे अनन्त आनन्द का अनुभव होता है—यह बात निकट भव्य जीवों को विदित है। इस मर्म का जिसे परिचय नहीं है ऐसा अभव्य पुरुष उस सुख का श्रद्धान नहीं कर सकता है।

सिद्धों का अनन्त सुख—अनेक लोग ऐसी शंका उठाते हैं कि लो, तपस्या की, शरीर छूटा, कर्म छूटा, यह जीव अकेला ही ऊर्द्धगमन स्वभाव से लोक के शिखर पर चला गया। वह क्या वहाँ सुख भोगता होगा, अकेला पड़ा है लोक के बिल्कुल किनारे पर, कैसे समय कटता होगा, क्या करते होंगे? यहाँ की बात लपेटकर और सिद्ध में भी सुख की शंका करते हैं। अरे सिद्ध भगवान के कैसा सुख है, इसका तब तक परिचय नहीं हो सकता जब तक आप अपने आपमें बसे हुए एकत्व की भावना से उत्पन्न हुए अपने ही आनन्द को आप नहीं भोग सकते, उस शुद्ध आनन्द की झलक आप नहीं ले सकते तब तक सिद्ध भगवान के आनन्द का आप परिचय नहीं पा सकते हैं। सुख क्या है? स्वभाव के जो विरुद्ध है स्वभाव के जो प्रतिकूल है, स्वभाव की जो प्रतिकूलताएँ हैं उनका अभाव होने से अपने आप जो स्वभाव का एक शुद्ध विकास होता है वहाँ ही तो सुख है। आत्मा का स्वभाव है दर्शन और ज्ञान। उन दोनों के विषय का जो विरोध करे उसी का नाम है प्रातिकूल्य। ये प्रतिकूलताएँ सब मोक्ष में नहीं हैं। जो आत्मा समस्त ज्ञेयों को जानता है देखता है ऐसे उस विशुद्ध आत्मा के स्वभाव की प्रतिकूलताएँ रंच भी नहीं हैं। स्वभाव की प्रतिकूलताएँ विषयों के भोग में, विषयों की प्रवृत्ति में संकल्प विकल्प में पड़ी हुई हैं। इन सब प्रतिकूलतावों का मोक्ष में अभाव हो जाता है और उन बाधावों का अभाव होने से अनाकुलता रूप परमार्थ आनन्द का मोक्ष में अनुभव अचलित रहा करता है।

परमार्थत: अमीरी और गरीबी—यह जीव स्वभाव से ही ज्ञानानन्दस्वरूप है। इस मर्म का जिसे विशद अवगम है उससे बढ़कर यहाँ कोई अमीर नहीं है । और जिसे इस ज्ञानानन्दस्वभाव का परिचय नहीं है उस जीव से बढ़कर गरीब दुनिया में कोई नहीं है । ये थोड़े समय के मिले हुए समागम अथवा विकल्प मौज ये सब स्वप्नवत् हैं, ये

परमार्थ कुछ नहीं हैं । उस आत्मा के ज्ञान दर्शनस्वभाव के उस आनन्द का ज्ञान भव्य पुरुष ही जानते हैं । तो भव्यपुरुष ही मोक्षमार्ग में चलने के योग्य हैं, इसका अभव्य श्रद्धान नहीं कर सकते । अतएव अभव्यजीव मोक्षमार्ग के योग्य नहीं हैं । जितना भी अपने आपके स्वरूप की ओर झुकाव होगा, अपने आपको अकेला मानकर और अधिक एकत्वस्वरूप में जाना होगा उतना ही यह आत्मा विशुद्धआनन्द का अनुभव करेगा ।

लौकिक होड़ की व्यर्थता—इस जगत में लोग सुख की होड़ लगा रहे हैं । दूसरे के सुख को देखकर या दूसरों को मैं भी सुखी जचूँ, इस ख्याल से सुख की होड़ में लग रहे हैं । धनवान बनने की होड़ में ये मनुष्य दूसरे धनवान पुरुषों को देखकर, मैं कहीं छोटा न कहलाऊँ, कहीं मेरी प्रतिष्ठा कम न हो जावे, यह सोचकर लोग धनिक बनने की होड़ मचाये हुए हैं, लेकिन ये सबकी सब बातें किसे दिखाना चाहते हो? यहाँ आपका कोई साथी नहीं है, कोई हितू नहीं हे, कोई मित्र नही है, कोई रक्षक नहीं है । किसे प्रसन्न करने के लिए बाहरी सुख, बाहरी वैभव, बाहरी संचय की धुन में अपने को लगाया जा रहा है? जो पुरुष उन सबसे परे आत्मा के शुद्ध एकत्वस्वरूप को जानता है वह पुरुष विशुद्ध आनन्द का अनुभव करता है ।

भव्यत्व का गौरव और उपयोग—इन संसारी जीवों में जो भव्य जीव हैं वे ही मोक्षमार्ग के योग्य हैं, सब मोक्षमार्ग के योग्य नहीं हैं । एक बात और विशेष समझना । इस जगत में भव्य जीव अभव्य से अनन्तगुणे हैं । अव्यय अत्यन्त कम हैं और फिर हम आपको ऐसी श्रद्धा बनानी चाहिए ही । है भी ऐसी बात कि हम आप सब ऐसी कक्षा के लोग तिर भी सकते हैं ।हम सबका कर्तव्य है कि हम अपने उस ज्ञानदर्शन स्वभाव की श्रद्धा करके अपने एकत्वस्वरूप की ओर झुके और विशुद्ध आनन्द प्राप्त करने का उद्यम करें ।

गाथा 164

दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गोत्ति सेविदव्वाणि।

साधूहि इदं भणिदं तेहिं दु बंधो व मोक्खो वा ।। १६४।।

साधुसेवितव्य दर्शनज्ञानचरित्र—इस गाथा में इन दो मर्मों पर दृष्टि डाली गयी है कि दर्शन, ज्ञान, और चरित्र—ये तो किसी प्रकार बंध के भी कारण हो सकते हैं किन्तु जीव के स्वभाव में नियत हो जाने रूप निश्चय चरित साक्षात् मोक्ष का ही कारण होता है । साधुजनों ने यह बात बतायी है कि साधुजनो ! दर्शन, ज्ञान और चरित्र, यह है मोक्ष का मार्ग, इनका सेवन करना चाहिए, परन्तु उनके सेवन में कभी बंध भी हो सकता है और मोक्ष भी होता है ।

राग सम्बन्ध से दर्शनज्ञानचारित्र की बंधहेतुता—दर्शन, ज्ञान, चरित्र कब किस प्रकार बंध के कारण होते हैं, इसको भी दो दृष्टियों से सोचिये—एक तो शाब्दिक गुंजाइश की दृष्टि से यह ही तो कहा ना कि दर्शन, ज्ञान, चरित्र कथचित् बंध के कारण हैं, ठीक तो है । वे दर्शनज्ञान, चरित्र यदि मिथ्या हैं तो बंध के कारण हैं और सम्यक् है तो बंध के कारण नहीं हैं । यह तो शाब्दिक गुञ्जाइश का निपटारा है । अब भीतरी मर्म की बात सुनो । हम आप से पूछें कि बतावो घी ठंडक पैदा करने का कारण है या जलाने का कारण है? उत्तर दो । क्या घी ठंडक पैदा करने का कारण है? तो अच्छा सुनो ! कड़ाही में पक रहे घी को डाल दे कोई तुम्हारे ऊपर तो... अरे क्यों भागते हो, घी तो ठंडक पैदा करने का कारण है, ठीक है । घी यद्यपि शीतलता लाने का कारण है, परन्तु अग्नि से सम्बंधित

होकर तो यह घी जलाने का ही कारण बनेगा । ऐसे ही समझिये कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र भी सम्यग्दृष्टियों के भी ये तीनों हैं तो मोक्ष के कारण ना? तब जब कभी रत्नत्रय शुभोपयोग और राग से सम्बंधित है, रागी पुरुष में है तो शुभोपयोग से राग से सम्बंधित यह रत्नत्रय स्वर्ग का कारण बनेगा ।

अद्वैतवस्तु का प्रति समय अद्वैत परिणमन—बन्ध और मोक्ष की हेतुता का बहुत विश्लेषण करें और उनके अंश-अंश की बात करें तो यों कह लेंगे कि जितने अंश में रत्नत्रय है उतने अंश में मोक्ष का कारण है और जितने अंश में राग है उतने अंश में बह संसार का कारण है, लेकिन यह अंश आपके दिमाग में ही तो है । आत्मा में प्रकट तो कहीं जुदा अंश नहीं पड़ा है? वहाँ तो जो कुछ है प्रतिसमय में एक ही परिणमन है । अद्वैत पदार्थ है और प्रतिसमय में अद्वैत परिणमन है । जैसे उस घी के सम्बन्ध में भी कह सकते हैं, जो कड़ाही में उबल रहा घी है, उसमें जितने अंश में घृतपना है उतने अंश में यह शीतलता का कारण है और जितने अंश में गर्मी का सम्बन्ध है उतने अंश में जलाने का कारण है, मगर उस घी में यह शीतलता का हेतुभूत और जलाने का हेतुभूत अंश जुदा-जुदा कहाँ पड़ा है? वह तो एक हो रहा है । जिस प्रकार से भी वह परिणत है उस प्रकार से वह एक है । तब यही बात हुई ना कि जैसे अग्नि से सम्बन्धित उबला हुआ घी विरुद्ध कारणरूप होता है ऐसे ही किसी भी मात्रा में शुभोपयोग की परिणति से सम्बन्धित ये दर्शन, ज्ञान, चारित्र बंध के कारण भी होते हैं ।

दर्शनज्ञानचारित्र में मोक्षहेतुता का आविर्भाव—ये दर्शन ज्ञान चारित्र मोक्ष के कारण कब होते हैं? इसे जैसे कि उस धी में से अग्नि का सम्बलन दूर हो जाय तो वह घी अब विरुद्ध कार्य का कारण नहीं रहा अर्थात् जलाने का कारण नहीं रहा, इस ही प्रकार जब, सर्वप्रकार के पर समयों की परिणति दूर हो जाती है और स्वसमय परिणति से लग जाता है तब वह मोक्ष का कारण ही होता है, बंध का कारण नहीं है । जीवस्वभाव में नियत होने रूप जो चारित्र है वह तो साक्षात् मोक्षमार्ग का कारण है अर्थात् सर्व प्रकार से जो स्वसमय परिणत है वह साक्षात् मोक्ष का मार्ग है । जैसे अग्नि के संयोग से स्वभाव से शीतल होने वाला भी घी दाह का कारण बन जाता है, ऐसे ही पंचपरमेष्ठी आदि पावन द्रव्य के आश्रय से बने हुए जो भक्ति आदिक परिणाम हैं इन परिणामों से सहित जो परिणमन है, रत्नत्रयरूप प्रवर्तन है वह भी साक्षात् पुण्यबंध का कारण होता है, और अत्यन्त मोटी बात जैसे पहिले शाब्दिक गुंजाइश में बताया था, मिथ्यात्व, विषयकषाय निमित्तभूत परद्रव्यों का आश्रय करके होने वाला जो दर्शनज्ञान चारित्र का परिणमन है वह तो पापबंध का ही कारण होता है । इससे यह निश्चित कर लीजिए जीव के स्वभाव में नियत होने रूप चारित्र ही मोक्ष का मार्ग है ।

दृष्टि की चारकता—सब कुछ जीव की एक दृष्टि लगने की बात है । लग जाय जीव इस ओर तो उसका कुछ भविष्य ही उज्ज्वल होने लगता है, और लग जाय पापों की ओर तो उसका भविष्य भी सब गंदा हो जाता है । यहाँ भी केवल दर्शन ज्ञान चारित्र का परिणमन किया और शुद्ध पथ में लगने पर भी दर्शन ज्ञान चारित्र का परिणमन किया । न यहाँ संसार में फंसने की परिणति में भी कुछ अन्य हाथ लगा और मोक्षमार्ग में भी कुछ अन्य हाथ लगने की कथा ही क्या है, वह तो स्व के उपलम्भ स्वरूप है । संसारमार्ग में चाहते हुए भी जीव को कुछ मिलता नहीं है बाहर में । मोक्षमार्ग में भी मिलता नहीं, लेकिन यह चाहता भी नहीं । इतना अन्तर है । संसारमार्ग की

चाह है, पर मिलता कुछ नहीं है, मोक्षमार्ग में चाह भी नहीं है, मिलता भी नहीं है बाहर से कुछ । इस प्रकार इस निश्चय मोक्षमार्ग के प्रकरण में ''जीव आत्मस्वभाव में नियत रहे, यही शान्ति का उपाय है,'' यह बात बताई गयी है ।

गाथा 165

अण्णाणादो णाणी जदि मण्णदि सुद्धसंपओगज़ुदो ।

हवदित्ति हुक्खमोक्खं परसमपरदो हवदि जीवो ।।१६५।।

सूक्ष्मपरसमयपने का आख्यान—जैसे लोग कहते हैं कि अपने ही घर में बैठा हुआ गुप्त दुश्मन अधिक खतरनाक होता है । यद्यपि प्रकटरूप से आपत्ति उपसर्गों का आना व्यक्त दुश्मनों की ओर से होता है । घर में छुपे हुए दुश्मन से कोई बिगाड़ सामने नजर नहीं आता, लेकिन वह भी जड़ काटने वाला दुश्मन है । ऐसे ही मिथ्यात्व विषयकषाय हिंसा आदिक पाप ये सब व्यक्त दुश्मन हैं और इनसे जीव का बिगाड़ है, जीव की अवनति है, ये प्रकट जाहिर हैं, किन्तु इन व्यक्त दुश्मनों को दूर कर देने पर भी अन्तरङ्ग में कोई बैरी बसा हुआ होता है जो बड़ा सुहावना लगता है और यह बैरी है, इस प्रकार का कि उस पर संदेह भी नहीं होता । उस आत्म बैरी की चर्चा इस गाथा में की गई है अर्थात् सूक्ष्मता से परसमयपन में क्या होता है उसका इसमें वर्णन किया गया है । ज्ञानी पुरुष अर्थात् सराग सम्यग्दृष्टि जीव अथवा व्यवहार सम्यग्दृष्टि जीव कदाचित् अज्ञानभाव से कोई सूक्ष्म विवेक न होने से ऐसा मानते कि शुद्ध जो अरहंत आदिक पदार्थ हैं, उनके लगाव से, उनके लगने से, शुभोपयोग से दुःखों से छुटकारा होता है, ऐसा गाथा समझ ले तो उस जीव को परसमय में अनुरक्त हुआ समझिये ।

प्रभुभक्ति में उपकार व रागलेश का बंध—अरहंत आदिक भगवान ये सिद्धि के साधनीभूत हैं । जैसे कहते हैं ना कि जो यह जिनवाणी न होती तो हम मोक्षमार्ग में कैसे लगते? तो किस भांति पदारथ हांति कहाँ लहते रहते अविचारी । तो इसमें कुछ सन्देह नहीं है कि अरहंत भगवान हम सब भव्य जीवों की सिद्धि के साधनभूत हैं, उनका बहुत उपकार है । यहाँ हम आप संसारी जीव किसी की सहायता से कुछ अपनी आजीविका का साधन बना लेते हैं तो उसका बहुत बड़ा आभार मानते हैं जो कि सब मोह की निद्रा के स्वप्न हैं, फिर उनके उपकार का कौन वर्णन कर सकता है जिनकी दिव्यध्वनि की परम्परा से चला आया हुआ यह समस्त उपदेश है जो अन्तरङ्ग के मिथ्या भ्रम को दूर करके एक सम्यग्ज्ञान का प्रकाश करा देता है, उसके उपकार का ऋण कौन चुका सकता है? जीव के सुख दुःख आनन्द का सम्बंध तो ज्ञान की पद्धति से है, बाहरी चीजों से नहीं है । जिस ज्ञानपद्धति से आनन्द प्राप्त हो सके वह ज्ञानपद्धति जिसकी कृपा से बन जाय उसके उपकार का ऋण: कौन चुका सकता है? भगवंत अरहंत परम उपकारी पुराण पुरुष हैं, उन अरहंत परमेष्ठियों की भक्ति के फल से अनुरंजित अर्थात् धर्मानुराग करते हुए जो चित्तवृत्ति है उसका नाम है शुद्ध संप्रयोग । शुद्ध पावन चैतन्य द्रव्य में उपयोग का जो भली प्रकार प्रयोग है वह है शुद्ध सम्प्रयोग । ठीक है, उसे जान ले, शुद्ध का उपयोग करें, शुभोपयोग करें, पर अज्ञान का लेशमात्र होने से ज्ञानवान होकर भी यदि कोई ऐसा मान बैठे कि इस शुद्ध सम्प्रयोग से मोक्ष होता है तो इस अभिप्राय से उसे विधी बन्ध होता है व खेद पहुंचता है ।

वस्तुस्वातन्त्र्य के प्रतिकूल विचार में खेद—विकल्प करना और विकल्पों से अनुरंजित होना, यह तत्काल खेद को उत्पन्न करने वाली वृत्ति है। शुभोपयोग से मोक्ष होता है—इस प्रकार की श्रद्धा, इस प्रकार के विकल्प से ही उसे अविदित खेद पहुंच रहा है। जो बात जहाँ यथार्थ नहीं है, जो बात जहाँ फिट नहीं बैठती है उसको वहाँ जोड़ने के समय खेद तो होता है। आप किसी मशीन में कोई पेंच पुर्जा लगायें, मान लो एक ढिबरी ही लग रहे हैं और वह किसी दूसरी कीली पर लगाया है, फिट नहीं बैठती है तो चित्त दुःखी हो जाता हैं खिन्न हो जाता है। देखो है मामूली-सी बात, पर उसमें ही आप खेदखिन्न हो जाते हैं, और जब वह ढिबरी ठीक फिट हो जाती है तो वहाँ आप खुश होते हैं। ऐसे ही कोई आशय बने भीतर में जो आशय वस्तुस्वरूप के विरुद्ध हो उस आशय के करने मात्र में ही खेद उत्पन्न होता है, और फिर उससे जो काम बिगड़ेगा उसका खेद होगा वह अलग बात है, पर तत्काल ही एक विरुद्ध आशय होने पर खेद होता है यह तो उसी समय का उसका ही काम है। तो जब यह जीव ज्ञानवान होकर भी इस शुभ राग से मोक्ष होता है इस अभिप्राय से खेद करता है उस शुभ राग में प्रवृत्ति करता है तब तक वह भी राग का सद्भाव होने से परममयरत कहा गया है।

विरोधी से सावधानी—जैसे कोई पुरुष बहुत से दुश्मनों में घिर जाय तो वह बुद्धिमान पुरुष क्या करता है? उनमें फूट डाल देता है। इससे बहुत से दुश्मनों से वह रक्षा कर लेता है और जिनमें रह जाता है उनके सम्बन्ध में भी जानता वह सब है कि इससे भी हमें छूटना है, यह भी मेरा बैरी है। जैसे पहिले समय में कुछ ऐसी घटनाएँ हुई हैं यहाँ भारत में कि अँग्रेज़ों के राज्य में कोई इन्हीं भारतीयों में एक दूसरे को आपस में मार दे या बरबाद कर दे, ऐसा करने वालों के लिए प्रलोभन दिया, इनाम देने के लिए बोल दिया। पर जब उन्हें मार दिया, बरबाद कर दिया और इनाम लेने अथवा सम्मान लेने गए तो यह उत्तर दिया गया कि तुम्हारा क्या विश्वास? जब तुम अपने भारतीयों के भी होकर नहीं रहे तो तुम हमारे होकर कहाँ रहोगे? यों ही समझिये कि यह ज्ञानी चतुर जीव भी सर्वप्रकार के सूक्ष्म रागों से भी सावधान रहता है, सूक्ष्म राग में वह भक्ति करता है, परोपकार करता है। सब कुछ कर के भी जानता यह है कि राग का लेशमात्र भी हमारे लिए अहितकर है।

सूक्ष्म परसमयता से भी निवृत्ति की दृष्टि—देखो भैया! ऐसा भी पुरुष जो प्रभु की भक्ति करके यह मानता हो कि हमारा तो मोक्ष निश्चित हो गया, हम रोज प्रभुभक्ति करते हैं, रोज पूजा करते हैं, उस जीव का जो परद्रव्यों के प्रति आकर्षण है राग है उस राग के सद्भाव से उसे परसमयरत कहा गया है। भला बतलावो जब ऐसा ज्ञानी निर्मल परोपकारी उदार, जो विषयों में भी आसक्त नहीं है, जिसे परिग्रह का भी कोई ममत्व नहीं है ऐसा यह पुरुष प्रभु की इतनी विशेष भक्ति करके भी इतनी सी बात के कारण यह परसमयरत बन गया तो जो लोग निरंकुश स्वच्छन्द राग की कालिमा से कलंकित चित्त वाले हैं उन जीवों के लिए तो क्या कहा जाय? अथवा इस प्रकरण में संभले हुए को समझाया जा रहा है इसीलिए उस सूक्ष्म दोष की भी बात निकाली जा रही है।

शुभानुराग—भगवान का यह उपदेश है कि हे भव्य जीवो! तुम सब अपने स्वरूप को निहारो और भले ही हमारा सहारा लेकर अर्थात् हम को स्मरण करके, भक्ति करके कुछ अपनी तैयारी बना लो, ठीक है लेकिन हमारा भी ध्यान छोड़कर, हमारा भी आस्रव तजकर अपने अन्तःप्रकाशमान उस शुद्ध परमब्रह्म में ही तुम लीन हो, इसमें ही

तुम्हारा गुजारा है, कितना स्पष्ट उपदेश है । रागी भगवान तो यह कोशिश करता है कि तुम एक मुझ को ही शरण मानो, अन्यत्र किसी की शरण में मत जावो तो तुम्हारा उद्धार होगा । लेकिन वीतराग सर्वज्ञदेव के उपदेश में ऐसे बहकावा की और दबाव की कोई बात नहीं है । कोई पुरुष निर्विकार शुद्ध आत्मा की भावनारूप परम उपेक्षा संयम में ठहरने की इच्छा तो कर रहा है, लेकिन उस परम उपेक्षाभाव में, उस समतापरिणाम में ठहरने के लिए असमर्थ हो रहा है । तब ऐसी स्थिति में काम, क्रोध आदिक राक्षस इस पर आक्रमण कर दें ऐसी गुञ्जाइश है लेकिन ये ज्ञानी जीव क्या करते हैं कि उन काम क्रोधादिक अशुद्ध परिणामों से बचने के लिए और संसार की स्थिति का भी छेदन बना रहे इसके लिए पंचपरमेष्ठी में भक्ति करते हैं, उनके गुणों का स्तवन करते हैं । जब यह शुभोपयोग किया जा रहा है तब उस समय तो वे सूक्ष्मकषायों से परिणत हैं ना, अत: वहीं भी शुभानुराग का बन्ध है ।

कषायपंक्ति—इन्द्रिय के विषयों में लगे वह तो तीव्र कषाय है, लेकिन भगवद्भक्ति, यह भी अकषाय अवस्था में नहीं होती । सूक्ष्म कषाय है, शुभ राग है उसमें यह अवस्था हो रही है, ऐसा सूक्ष्म परसमय में परिणत होता हुआ यह सराग सम्यग्दृष्टि जीव है, वही सम्यग्दृष्टि जीव जो शुद्ध आत्मा की भावना में तब भी समर्थ तो था, पर कषायों के वेग में कर नहीं रहा था, अब वह उस सूक्ष्म भी कषाय परिणति को त्यागकर निवृत्त होता है, सूक्ष्म राग से भी निवृत्त होकर वह स्वसमय बनता है, लेकिन शुद्ध आत्मा की भावना को त्यागकर शुभोपयोग से ही मोक्ष होता है, ऐसा वह बन जाय, हठ कर जाय तो वह स्थूल परसमय से परिणत हो जाता है । तब अज्ञान से यह जीव नष्ट हो जाता है, बरबाद हो जाता है ।

रक्षक ज्ञान—इस जीव को बचाने वाला, रक्षा करने वाला एक ज्ञान है और ज्ञानों में ज्ञान वही है जो ज्ञान अपने ज्ञान के स्वरूप को जानता रहे और यह प्रतीति में लेता रहे कि मैं तो यह ज्ञानमात्र हूं । जिन असमानजातीय द्रव्यपर्यायों से इन मायामयी मनुष्यों को रिझाने के लिए हम अपने स्वरूप से चिगकर नाना विभाव परिणमनों में आते है—न तो ये लोग कोई साथ देंगे और न कोई यहाँ की परिणति साथ देगी । ये सब संसार में रुलाने के कारण हैं ।कुछ क्षण तो हम इस परमपुरुषार्थ को अपनाएँ कि सर्व परद्रव्यों से, परभावों से परम उपेक्षा करके शाश्वत निज चैतन्यस्वभाव में अपनी दृष्टि करें, यही है कल्याण का साधन । इस गाथा में सूक्ष्म परसमय का स्वरूप बनाकर इस ज्ञानी जीव को उस सूक्ष्म कषाय से राग से भी दूर होने का उपदेश किया है ।

गाथा 166

अरहंतसिद्धचेदियपवयणगणणाणभत्तिसंपण्णो ।

बंधदि पुण्णं वहुसो ण हु सो कम्मक्खयं कुणदि ।।१६६।।

शुभोपयोग से पुण्य का बन्ध—शुद्ध पदार्थों में लगे हुए उपयोग के प्रयोग के समय जो परिणति होती है वह परिणति कथञ्चित् बंध का कारण है । इस कारण यह शुभोपयोग मोक्षमार्ग रूप नहीं है अर्थात् शुभोपयोग पुण्य का बंध करने वाला है, किन्तु समस्त कर्मों का क्षय रूप जो मोक्ष है उसको नहीं करता । वह शुभोपयोग शुद्ध और शुद्ध के निर्देशक पदार्थों के आश्रय से उत्पन्न होता है ।

अर्हद्भक्ति का शुभ उपयोग—शुभोपयोगों में सर्वप्रथम स्थान है अर्हद्भक्ति का । अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति

और अनन्तआनन्द से सम्पन्न परमात्मतत्त्व में रुचि जगना सो अर्हद्भक्ति है । रुचि उसे कहते हैं जो ग्राह्यता के रूप से प्रकट होती है । यह चीज ग्रहण की वाचक है, मेरे लगाव के लायक है, मेरे लिए हितरूप है । इसी प्रकार की बुद्धि को जो उत्पन्न करे उसे कहते हैं रुचि । प्रभु की यह अनन्त चतुष्टयरूप गुण भक्ति जीव को उपादेयरूप से विदित है । इस अर्हद्भक्ति से सम्पन्न होते हुए, उनके गुणों का स्मरण करके, उन गुणों के चमत्कार को दृष्टि में रखकर अतिशय से आनन्दमग्न होता हुआ यह जीव बहुत प्रकार से अर्थात् अतिशयरूप से पुण्य का बंध करता है ।

सिद्धभक्ति का शुभ उपयोग—सिद्ध भगवान भी परमात्मा हैं, अरहंत भी परमात्मा हैं । केवल एक अघातिया कर्म का उदय और अधातिया कर्मों का उदय है और इस ही कारण शरीर आदिक से वे सहित हैं, किन्तु सिद्ध भगवान अष्टकर्मों से रहित हैं, इस कारण शरीरादिक से भी रहित हैं । उन सिद्ध भगवान के उस शुद्ध आत्यंतिक कैवल्यस्वरूप का स्मरण करना और ग्राह्यतारूप से अर्थात् यही मेरा स्वरूप है, इस ही में सत्य अनाकुलता है, यों उपादेयता की पद्धति से उनमें रुचि उत्पन्न करना सो सिद्धभक्ति है ।

चैत्यभक्ति का शुभ उपयोग—चैत्यभक्ति चैत्य अर्थात् चित्स्वरूप का प्रतीक, जो दृष्टिगोचर प्रतिबिम्ब है उसे चैत्य कहते हैं । चैत्य चित्स्वरूप में पाये जाने वाले भाव का भी नाम है । इसलिए परमार्थ से चैत्य तो हुआ आत्मस्वरूप और इसके पश्चात् और उपचार में बढ़े तो चैत्य हुए अरहंत सयोगकेवली । वह चैत्य जिस शरीर में रह रहा है उस शरीर का नाम भी चैत्य है । अब और आगे चलिए तो सयोगकेवली का प्रतिबिम्ब, जिसमें स्थापना की है, ऐसी जो मंदिर में विराजमान प्रतिमा है उसका भी नाम चैत्य है, और चैत्यालय भी जो चैत्य का घर है उसे चैत्यालय कहते हैं । तो परमार्थ से चैत्यालय तो शुद्ध जीवास्तिकाय है । जिसे लोग कहते हैं मन्दिर, चैत्य अर्थात् चैतन्यस्वरूप । उसका जो आलय है, घर है वह वही जीवास्तिकाय है । कोई पूछे—कहाँ बस रहा है यह चैतन्यस्वरूप? तो उत्तर मिलेगा कि जीव आत्मप्रदेशों में बस रहा है । तो चैत्यालय शुद्ध जीवास्तिकाय का नाम है, और उपचार में चलें तो जो सयोगकेवली का परमौदारिक जो दिव्य शरीर है, वह है चैत्यालय, क्योंकि ऐसा चैतन्यस्वरूप उसमें बस रहा है । फिर और चलो तो चैत्य प्रतिबिम्ब का जो घर है सो चैत्यालय है, वह है मंदिर । चैत्य की भक्ति करना, जीवस्वरूप की भक्ति करना, सयोगकेवली की भक्ति करना और मंदिर चैत्यालय की भक्ति करना यह सब चैत्यभक्ति है । चैत्यभक्ति में व्यक्त हुआ जो शुभोपयोग परिणमन है वह परिणमन पुण्य का बंध करता है, किन्तु सकल कर्मक्षय को उत्पन्न नहीं करता है ।

प्रवचनभक्ति का शुभ उपयोग—प्रवचनभक्ति प्रवचन नाम है आगम का । जो प्रामाणिक वचन हों, उन्हें प्रवचन कहते हैं । आप्त सर्वज्ञदेव के वचन प्रामाणिक वचन हैं । अत: उस आगम का नाम है प्रवचन । प्रवचन की भक्ति करना, प्रवचन में जो तत्त्व कहा गया हो, स्वरूप बताया है उस स्वरूप का आदर करना, वस्तुस्वरूप का अवगम करना और वस्तुस्वरूप का अवगम कराने में साधनभूत इस 'प्रवचन का उपकार मानना सो प्रवचन भक्ति- है । प्रवचन का हम आप लोगों पर बड़ा उपकार है । न होते ये जिन वचन तो हम न जाने किस दिशा में बहे होते? मिथ्यात्व के प्रवाह में बहकर कुगतियों में जन्म लेते फिरते और आज भी कोई पूर्ण सन्तोष की बात नहीं है । यदि न चेते

तो यही काम आगे होगा, मिथ्यात्व वासना से अनुरक्त होकर योंही कुगतियों में जन्म लेते फिरेंगे । इस कारण बहुत बड़ी जिम्मेदारी है इस मनुष्यभव की । संसार के समस्त संकटों से छूटने का उपाय इस भव में बन सकता है । इस ओर दृष्टि न दें ममता में, परिजनों में, वैभव में, तृष्णावों में ही अपने आपको रमाये रहे तो यहाँ कोई जानने वाला तो है नहीं, अथवा शरण सहाई कोई है नहीं । मोह की नींद का स्वप्न देखकर चल बसेंगे और फिर यदि कीड़ा मकोड़ा वनस्पति हो गए तो फिर कौन पूछने वाला है? व्यवहार भी फिर वहाँ न चलेगा । इससे अपनी बड़ी जिम्मेदारी माननी चाहिए ।

मन का निरोध करके अध्यात्मदर्शन की प्रेरणा—भैया ! मन ने जैसा हुक्म दिया इन्द्रिय विषयों की भक्ति की, प्रेरणा की तो उस ओर नहीं बहना चाहिये, जरा रुकना चाहिए, उसमें न बहे । इस मन को समझा दें । इन क्षणिक सुखों में तेरा गुजारा न होगा । तेरा गुजारा तो जो तेरा शुद्ध स्वरूप है उस स्वरूप की रुचि कर, उसमें मग्न रह, उसका ही आदर कर उसमें ही बस, तो तेरा सत्य गुजारा चलेगा । ऐसा अपने मन को समझायें और इन विषयों में, ममताओं में, परिग्रहों में आसक्ति न उत्पन्न हो, ऐसा प्रयत्न करें । इस ही प्रयत्न से हम आप सबका यह जैनशासन का पाना भी सफल होगा । प्रवचन भक्ति सातिशय पुण्य का बंध करायेगी, पर मोक्ष उत्पन्न न करायेगी । लेकिन ये सब हमें इस प्रकार के पात्र बनाने वाले हैं कि जिससे मोक्ष के साक्षात् साधनभूत इस निश्चयदृष्टि अथवा स्वानुभूति का आलम्बन ले सकेंगे ।

साधुभक्ति का शुभ उपयोग—मुनियों की भक्ति—जैसे हम आपके पड़ौस में कोई गृहस्थ धर्मात्मा है, उदार है, ज्ञानी है, नम्र है तो उसकी छाप हम पर बहुत अधिक पड़ती है, क्योंकि वह सामने है, और इतिहास के पन्नों में जिन बड़े उदार चित्तो का, नायकों का, संतों का नाम लिखा हुआ है और पढ़ते हैं उनका इतना प्रभाव शीघ्र नहीं पड़ता जितना कि एक दिखने वाले साधारण गृहस्थ में उदारता, परोपकार शीलता, ममता का न होना, सबके काम आना, व्रत में, तपश्चरण में, प्रभुभक्ति में लगना । इन बातों को देखकर प्रभाव बनता है, ऐसे ही समझिये कि सिद्ध प्रभु तो ओझल है और होते भी यहाँ तो आँखों क्या दिख सकते थे? अरहंत भगवान कभी यहाँ दिखा करते थे, किन्तु आज नहीं हैं और अब भी वह आगम गम्य हैं, युक्ति और अनुभव से भी गम्य हैं, किन्तु साक्षात् यत्र-तत्र क्वचित् मिल जाने वाले साधु संतों के दर्शन से हम अपने में तात्कालिक प्रभाव पाते हैं । जब हम उन साधुवों के गुणों पर दृष्टि देते हैं, इनका ज्ञान, इनका झुकाव केवल एक शुद्ध चैतन्यस्वरूप की ओर रहा है । जगत के बाह्य आडम्बरों से कुछ प्रयोजन नहीं है, कैसी क्या बीत रही है, देह पर भी क्या गुजर रहा है, इस ओर भी ये विकल्प नहीं करते । एक शुद्ध ज्ञायकस्वरूप अंतस्तत्त्व की ओर इनका ध्यान रहता है । जो अंतस्तत्त्व निर्विकल्प विकल्प समतारस से परिपूर्ण है ऐसे अभंग वैराग्यसम्पन्न ज्ञानपुञ्ज साधु के गुणों पर दृष्टि देते हैं, उस समय जो एक स्वरूप रुचि जगती है उसका नाम है साधुभक्ति । साधुभक्ति से सातिशय पुण्य का बंध होता है ।

ज्ञानभक्ति का शुभ उपयोग—एक ज्ञानभक्ति है । भेदविज्ञान की महिमा चित्त में समाना—अहो धन्य हो, जयवंत हो यह भेदविज्ञान, जिस भेदविज्ञान के प्रसाद से इस जीव को शिवपथ नजर आता है । हमें शान्ति किस प्रकार मिलेगी उसका साक्षात् अनुभव हो जाता है । भेदविज्ञान का परम उपकार है । संसार के कठिन से कठिन संकटों

में लगे हुए विपन्न इस प्राणी को संसार से उद्धार करने वाला यह भेदविज्ञान ही है । जो भी आत्मा सिद्ध हुए हैं, परमात्मा हुए हैं वे इस भेदविज्ञान से ही हुए हैं । जो आज तक संसार में बँध रहे हैं वे सब भेदविज्ञान के अभाव से ही बंधे पड़े हैं । अहो ! जयवन्त हो भेदविज्ञान । सब जीवों के उपयोग में समावो हे भेदविज्ञान । इस जीव का वास्तविक शरण यह भेदविज्ञान है । अन्य पदार्थ जो स्वरूप से ही अलग हैं, भिन्न हैं उनकी अपनायत, उनकी दृष्टि इस जीव के अहितरूप है । यों भेदविज्ञान के गुण चमत्कार विचार-विचारकर इस भेदविज्ञान का जयवाद करना, सो ज्ञानभक्ति । फिर जो आगे चलकर जिससे हम अपने को हटा रहे थे उसका भी विकल्प छोड़कर एक निज शुद्ध अंत:स्वरूप में अभेदरूप से मग्न होना यही है अद्वैतज्ञान । इस ज्ञान के अनुभव के बाद विकल्प अवस्था में आने पर इस ही अभेदज्ञान का जयवाद करना, मरण करना, उसमें रुचि जगाना सो है ज्ञानभक्ति । यों परमपावन पदार्थ और अभेद की भक्ति से सम्पन्न हुआ जीव सातिशय पुण्य का बंध करता है । इस सम्बंध में इस जीव के शुद्धोपयोग का लक्ष्य है, लेकिन कुछ राग जीवित है, इस कारण वह उपयोग शुभोपयोगपने को नहीं छोड़ रहा है।

शुभोपयोग की लक्षणाओं से शिक्षण—शुभोपयोग होने के कारण यह जीव सातिशय पुण्य का बंध करता है । इस कथन से शिक्षा यह लेनी है कि जब ऐसे पावन पदार्थ की ओर उत्पन्न हुए राग की कणिका भी एक बन्धन का कारण बन गयी तो हमारा अब यह निर्णय हैकि समस्त पर तत्त्वों में अथवा सर्वत्र राग का लेश भी दूर करना चाहिए । क्योंकि रागभाव किसी न किसी अंश में परसमय की परिणति कराने का कारण होता है । रागभाव मोक्ष का मार्ग नहीं है, फिर भी इतना तो मानना ही होगा कि जब यह जीव राग करने की योग्यता में है तो इस राग को यदि इस परमपावन पदार्थ में न जुटाया जाय, यह राग यदि किन्हीं विषयों की ओर लग जाय तब तो वहाँ बहुत अहित है । इस दृष्टि से यह सब शुभोपयोग उपादेय है और इसमें हम आप परिणति भी कर रहे हैं, फिर भी हम आप सबका लक्ष्य चिन्तन भावना इस निर्लेप, शुद्धस्वरूप की ओर होना चाहिए ।

मन का विशुद्ध उपयोग—भैया ! यह मन खाली नहीं बैठ सकता । कुछ न कुछ इसे करने को चाहिए । जब तक मन का बल चल रहा है, जब तक ज्ञान-ज्ञान में प्रतिबिम्बित नहीं हुआ है, अर्थात् निर्विकल्प समाधिभाव प्रकट नहीं हुआ है तब तक इस मन का तो निरन्तर काम चल रहा है ना । तो ऐसी स्थिति में हम एक ही उपाय यह कर ले कि इस मन को इन शुभ शुद्ध पदार्थों की ओर लगा दें तो ये अशुभोपयोग विषय कषाय दुर्ध्यान—ये सब दूर हो जायेंगे । इस जीव के वास्तविक बैरी विषय और कषाय हैं । किसी भी दूसरे जीव को अपना विरोधी मान लेना युक्त नहीं है । वह अपने विषयसाधनों के लगाव से आज विषय साधनों के लगाव रखने वाले मुझ को यह टेढ़ा जंच रहा है लेकिन जिस बुनियाद पर यह बैरी जंच रहा है, किन्तु उसकी बुनियाद भी क्षोभ है और मेरी बुनियाद भी क्षोभ है । इसी कारण जो आज व्यवहार में विरोधी बन रहा है वह थोड़े ही समय बाद व्यवहार में हमारा परममित्र बन सकेगा और ऐसा होता भी रहता है बाहर में । कोई भी जीव मेरा विरोधी नहीं है । मेरा विरोधी मेरे विषय कषायों का परिणाम है । इसे दूर करें, फिर जगत में कोई भी जीव मेरा विरोधी न रहेगा ।

विषयकषायों को दूर करने का कर्तव्य—विषय और कषाय परिणामों को दूर करने के लिए हम तब तक समर्थ नहीं हो सकते हैं सही मायने में जब तक विषयरहित और कषायरहित निज शुद्ध चैतन्यस्वरूप का परिचय न पा

लें । एक उपयोग में दो बातें एक साथ नहीं बनती हैं कि विषयों का उपभोग भी करते रहें और धर्म का पालन भी करते रहें । जैसे एक सूई आगे और पीछे दोनों तरफ एक साथ सी नहीं सकती, एक पुरुष पूर्व और पश्चिम में दोनों दिशावों मे एक साथ एक ही समय में गमन नहीं कर सकता, इसी प्रकार समझिये कि एक उपयोग में विषयो का उपभोग और धर्म का पालन—ये दोनों नहीं बन सकते हैं, इस कारण यह निर्णय करिये कि इन दोनों में हेय क्या है, उपादेय क्या है, मेरा हितरूप क्या है, मेरा अहितरूप क्या है, ऐसा निर्णय बनाकर जो हितरूप हो उसमें उपयोग लगाइयेगा ।

विषय कषायों को दूर करने का यत्न—निर्विषय, निष्कषाय शुद्ध ज्ञायकस्वरूप ही हमारा हितकारी है, वही तो मैं हूँ, हितमय ही तो मैं हूँ, ऐसी अपने अंतस्तत्त्व की ओर भक्ति जगे वह तो है शरण और शेष किसी से भी प्रार्थना करें, आशा करें, मेरे विषयों के साधन बने इसीलिए तो लोग दूसरों से आशा रखते हैं, इन विचारों में इस जीव को शान्ति और सन्तोष कभी प्राप्त नहीं हो सकता है । अपने विचार शुद्ध बनायें, भावना शुद्ध रक्खें, विवेक हमारा सही रहे तो समझिये कि हम बड़े स्वस्थ हैं, सावधान हैं, विवेकशील हैं और यह बात न आ सकी, मोह ममता में ही रहे तो हमने कुछ भी विवेक का काम नहीं किया । अपना सत्य स्वरूप जाने और यह निर्णय करें कि पर तत्त्वों की ओर लगाव का होना ही हमारे लिए विपदा है, इस कारण सर्वप्रयत्न करके शब्दरहित निर्लेप निज चैतन्यस्वरूप की ओर ही झुकते रहें तो इसमें ही हमें शान्ति का मार्ग प्राप्त हो सकता है ।

गाथा 167

जस्स हिदयेणुमत्तं वा परदव्बम्हि बिज्जदे रागो ।
सो ण विजाणदि समयं सगस्स सव्वागमधरोवि ।।१६७।।

राग में ज्ञान की अवरोधकता—जिस पुरुष के हृदय में, परद्रव्यों के सम्बन्ध में अणुमात्र भी राग है वह आत्मा को नहीं जानता है । चाहे वह समस्त आगम का भी ज्ञाता हो, समस्त सिद्धान्तरूपी समुद्र के पार भी पहुंचा हुआ हो फिर भी जिसके हृदय में राग की रेणु की कणिका भी अर्थात् राग की धूलीकण रंच भी जीवित हो रहा हो वह पुरुष रागद्वेषरहित शुद्ध चैतन्यस्वरूप मात्र स्वसमय को ही जानता है । तब स्वसमय की सिद्धि के लिए क्या उपाय करना चाहिए? उपाय यही होना चाहिए कि अरहंत सिद्ध मुनि आदिक के विषय में भी क्रम-क्रम से रागरेणु को दूर करना चाहिए ।

रागनिवारणपद्धति—जैसे रुई धुनने वाला जो एक पींजना होता है तो उससे रुई धीरे-धीरे धुन-धुन कर उसको पूरा धुन दिया जाता है । रुई चुनने वाले लोग जैसे ५ सेर रुई धुनना है तो ५ सेर रुई इकट्ठी ही रखकर उसमें पींजना नहीं लगाते, किन्तु थोड़ा-थोड़ा उस पींजना से धुन-धुन कर उसे धुन दिया जाता है । एक बार गुरु जी सुनाते थे कि हम एक रजाई लेकर गये धुनिया के पास, एक दूसरा आदमी भी गया । आमने सामने दो धुनिया रहते थे । हमने एक धुनिया को रजाई दिया और दूसरे ने दूसरे धुनिया को दिया । दो-दो सेर रुई भरानी थी । तो हमारा धुनिया आधी-आधी छटांक रुई लेकर धुने और दूसरे का धुनिया सीधा दोनों सेर रुई लेकर धुने । तो हमने कहा कि तुम तो देर कर रहे हो, थोड़ी-थोड़ी लेकर धुनते हो, देखो वह दूसरा धुनिया इकट्ठी सारी ,रुई रखकर धुन रहा

हैं । तो वह धुनिया बोला कि तुम्हें इसका तजुर्बा नहीं है । तुम तो देखते रहो, उससे पहिले और उससे बढ़िया हमारी रूई धुन जायगी । आखिर ऐसा ही हुआ । तो जैसे रुई धुनने का तरीका थोड़ी-थोड़ी क्रम से धुनने का है, इसी प्रकार अरहंतादिक भगवन्तों के प्रति जो रागरेणु उठ रही है उसके दूर करने का तरीका धीरे-धीरे क्रम से है।

अशुभ राग से हटकर शुभ राग से हटने का उपदेश—कहीं शुभोपयोग की बन्धहेतुता का प्रकरण सुनकर कोई ऐसा न कर बैठे कि इसमें तो यह लिखा है कि भगवान की भक्ति बन्ध का कारण है, इसे हटावो । प्रभुभक्ति और साधुसेवा आदिक ये सब बंध के कारण हैं और लिखा है कि इन्हें दूर करना चाहिए, पर यह भी तो मर्म समझना चाहिए कि इसके दूर करने का तरीका कैसा होना चाहिए? क्रम-क्रम से दूर करें । जैसे एक बहुत तेज प्रवाह को यों ही उसका बिना मार्ग बनाये या बिना क्रम बनाये रोके तो वह बांध तो फट जायगा । ऐसे ही इस प्रभुभक्ति के राग को अभी से बिल्कुल दूर करें तो इसका अर्थ यही है कि अन्य रागों में फिर लगे वह । इस तरह रुई धुनने के तरीके की तरह अरहंत आदिक के विषय में भी रागरेणु दूर करना चाहिए ।

राग की बंधहेतुता—यह राग निरुपराग परमात्मतत्त्व के विरुद्ध भाव है और निरुपराग परमतत्त्व विकार के विरुद्ध भाव है । राग स्वस्वरूप को नहीं जानने देता अथवा अनुभव नहीं करने देता, इस कारण विषयों का राग तो पहिले त्याग करना ही चाहिए । उसके पश्चात् जैसे-जैसे गुणस्थानों में ऊपर चढ़ते जाते हैं उस क्रम से रागरहित निज शुद्ध आत्मतत्त्व में ठहरकर विशुद्ध विश्राम मिलता है तब अरहंतादिक के विषय में भी राग त्याज्य हो जाता है । यहाँ यह सब बातें इसलिए कही जा रही हैं कि हम आप सबके निर्णय में यथार्थ बात तो रहना ही चाहिए । विषयानुराग और शुभानुराग । विषयानुराग का तो इनमें प्रथम ही त्याग होना चाहिए—पर शुभानुराग भी क्रम -क्रम से दूर करें और एक अपना शुद्ध परिणमन बनाएँ । इस गाथा में इस बात का समर्थन किया है कि जब स्वसमय की उपलब्धि नहीं है तब वह रोग भी बन्ध का हेतु बन जाता है ।

आगम का बोझ—इस गाथा में समस्त आगम का धारण करने वाला भी होकर रागरेणु वश स्वसमय का जाननहार नहीं होता, यह बताया है । इस सम्बंध में एक आशंका की जा सकती है कि जो समस्त आगम का ज्ञाता होगा वह तो श्रुतकेवली है और श्रुतकेवली नियम से सम्यग्दृष्टि होता है, फिर इस गाथा का अर्थ कैसे ठीक बैठेगा? समस्त आगम का धारण करनेवाला होकर भी परद्रव्यों में अणुमात्र भी राग होने पर स्वसमय को जाननहार नहीं कहा है, यह कैसे ठीक बैठेगा? इसका समाधान सुनिये—प्रथम तो स्वसमय का जानन पूर्णरूप से जान लिया जाय तो उसका अनुभव करना अर्थ कर दीजिए । तब आगम का भी कोई ज्ञाता हुआ, सम्यग्दृष्टि हुआ, श्रुतकेवली हुआ, किन्तु उसका भी परिस्थितिवश किसी मुनि में शास्त्रादिक में कहीं उपयोग से राग पहुँच रहा हो तो उस काल में वह स्वयं को अनुभव नहीं कर रहा, प्रथम तो यह बात समझिये । दूसरी बात यह जानो कि यहाँ कहा है सर्व आगम का धारण करने वाला । तो धारण शब्द एक बोझ को सिद्ध करता है । समस्त आगम का बोध लादने वाला भी यदि परद्रव्य में अणुमात्र राग करता है तो वह स्वसमय को नहीं जानता है । इस आगम में बोझ के रूप में धारण करने की बात कहने से स्वयं ही यह सिद्ध हो गया कि वह आगम इतना ले लीजिये कि जितना सम्यक्त्व हुए बिना भी अधिक से अधिक ज्ञात किया जा सकता है । जैसे ११ अंग और ९ पूर्व की प्रसिद्धि तो है हो । इस आगम का

जाननहार होकर भी वह सम्यग्दृष्टि न भी हो मिथ्यादृष्टि के भी इतना ज्ञान हो सकता है और मिथ्यादृष्टि में ही क्या, अभव्यजीव के भी उतना ज्ञान हो सकता है ।

निरुपराग आत्मतत्त्व की भावना—इस गाथा का भाव यह है कि परसमय के विषय रंचमात्र भी राग हो तो वह भी बन्धनरूप है । वह राग भी त्याज्य है । इस तरह निरुपराग शुद्ध आत्मस्वरूप की ओर प्रवृत्ति करने का उत्साह देने के लिए शिक्षा दी गई है कि प्रशस्त रागविकल्प त्यागकर निरुपराग निज शुद्ध समयसार का अनुभव करना चाहिए ।

गाथा 168

धरिहुं जस्स ण सक्कं चित्तुब्भामं विणा हु अप्पाणं ।

रोधो तस्स ण विज्जदि सुहासुहकदस्स कम्मस्स ।।१६८।।

क्षोभनिरोध के बिना संवर का अभाव—जिस पुरुष के चित्त का संकल्प, चित्त का उद्‌भ्रम भ्रामकत्व आत्मा के बिना अर्थात् निज शुद्ध आत्मा की भावना के बिना रोका नहीं जा सकता है उसके शुभ और अशुभ किए हुए कर्मों का सम्वर कैसे होगा? थोड़ा भी राग हो तो वह दोष परम्परा का कारण हो जाता है, ऐसी बात कही है । जैसे किसी से थोड़ा भी मन न मिलता हो तो आज तो जरासा ही मन न मिलने की बात है, किन्तु वह ऐसा संकल्प-विकल्प और भ्रम उत्पन्न करता रहेगा कि थोड़े ही काल में वह विरोध का विराट रूप रख लेगा, ऐसे ही यह राग जिसे कि लोकव्यवहार में राजनीति में कहते हैं कि दुश्मन का कोई लेश भी रह जाय तो वह आगामीकाल में विघात का कारण होगा, ऐसे ही यह राग इस आत्मा का महा शत्रु है । यह राग थोड़ा भी रह जाय तो यह कुछ काल बाद विराट रूप रख लेता है ।

सूक्ष्म राग में भी संसरणहेतुता—नवग्रैवेयकों में सभी अहमिन्द्र होते हैं अर्थात् वहाँ इन्द्रादिक १० भाँति की कल्पनाएँ नहीं हैं । उनके शुक्ललेश्या मानी है । अब समझ लीजिए कि शुक्ल लेश्या के लक्षण कितने ऊँचे हैं? पक्षपात न करें, इष्ट राग न करें, अनिष्ट में द्वेष न करें, समतापरिणाम रखें इतना उत्कृष्ट परिणाम हो गया, परन्तु मंद राग अभी छिपा हुआ है । कोई-कोई लोग तो उस नवग्रैवेयक को ही मोक्ष मानते है । जैसी वहाँ की स्थिति होती है उस ही स्थिति को बैकुण्ठ का रूप देते हैं, चिरकाल तक वे मुक्त रहते हैं, परम आत्मा रहते हैं, सब झंझटों से छुट्टी रहती है और कल्पकाल बाद या कोई समय जो कि असंख्यातों वर्ष का है उतने वर्ष व्यतीत होने के बाद उनको वहाँ से च्युत होना पड़ता है और संसार में जन्म लेना पडता है । यही बात तो उनके सम्बन्ध में है । वे ३१ सागर पर्यन्त जिसमें कि असंख्याते वर्ष समाये हुए हैं वे रहते हैं । उनके राग कम है, बड़े सुख से हैं, अहमिन्द्र कहलाते हैं, और अन्त में अपनी आयु पूर्ण करने पर । इस भू लोक में जन्म लेना पडता है । तो देखो वह अल्प राग रहा तो राग रहा ना? वह एक बहुत बड़े राग का कारण बन गया ।

प्रभुभक्ति में भी राग की अनुवृत्ति—अरहंत आदिक के सम्बंध में भी जो भक्ति है वह भक्ति भी राग की अनुवृत्ति किए बिना नहीं होती अर्थात् शुद्ध वीतरागता के परिणाम में अर्हद्‌भक्ति नहीं होती, और इसी कारण भक्ति का प्रधान कर्तव्य श्रावकों को बताया गया है । यद्यपि साधु भी प्रभुभक्ति करते हैं, पर साधुजनो के लिए मुख्यता निर्विकल्प

समाधि के यत्न का उपदेश है और उसमें जब वे नहीं ठहर पाते हैं तो वे अर्हद्भक्ति आदि भी करते हैं । अर्हद्भक्ति की मुख्यता साधुजनों को न बताकर श्रावकों को बतायी है और ऐसे ही दान की मुख्यता साधुवों को न बताकर गृहस्थों को बतायी है ।

अर्हद्भक्ति आदि में ज्ञानी का आशय—अध्यात्मग्रन्थों के प्रणेता श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने भी रयणसार ग्रन्थ में श्रावकों का मुख्य धर्म दान और पूजा कहा है और साधुवों का मुख्य धर्म सामायिक चारित्र निर्विकल्प समाधि विशुद्ध समता का परिणाम कहा है । इसके मायने यह नहीं हैं कि गृहस्थ केवल भक्ति, पूजा, दान ही करते रहें और वह निरुपराग आत्मतत्त्व की दृष्टि से दूर रहें, यह अर्थ नहीं है, पर निरुपराग शुद्ध आत्मतत्त्व की दृष्टि इन श्रावकों के गौणरूप से रहती है और दान, पूजा की बात श्रावकों में मुख्यरूप से रहती है, और साधु जनों में निरुपराग शुद्ध आत्मतत्त्व की साधना का कार्य मुख्यरूप से रहता है और उपदेश देना यही उनका दान हो जाता है । तो ये ज्ञानदान आदिक के कार्य और अर्हद्भक्ति आदिक के कार्य उनके गौणरूप से चलते हैं । इसका अर्थ यह हुआ कि श्रावक है मुख्यता से सराग सम्यग्दृष्टि । तो अब श्रावक को ऐसी स्थिति में जब कि राग करने के अनेक विषय सामने पड़े हैं—दूकान, घर, व्यवहार जब इतने राग के साधन पड़े हैं तो ऐसी स्थिति में यह श्रावक अपने राग का अधिकाधिक प्रयोग अर्हद्भक्ति आदिक रूप में करे ।

राग की अनुवृत्ति में ज्ञानप्रसार का अभाव—अर्हद्भक्ति राग की अनुवृत्ति किए बिना नहीं होती और राग की अनुवृत्ति होने पर बुद्धि का विस्तार नहीं बनता या कुबुद्धि का विस्तार बनता है, ज्ञान का विस्तार नहीं बनता । राग का स्वभाव ही ऐसा है कि राग रहे किसी ओर तो ज्ञानका प्रसार नहीं बनता । जिस विषय में राग रहता है तो इसका तो अंदाज किया ही होगा, ज्ञान का विशुद्ध प्रसार नहीं हो पाता । यहाँ है शुद्ध परमात्मप्रभु में राग । इस कारण विषयो के राग की तरह बुद्धि प्रसार को तो यह न रोकेगा, किन्तु राग है और राग होने के कारण उपयोग किसी एक विषय में रुका हुआ है, ऐसी स्थिति में वहाँ बुद्धि का प्रसार नहीं हो सकता अर्थात् केवलज्ञानादिक जैसे मन:पर्ययज्ञान आदिक जैसे विशुद्ध ज्ञान प्रकट नहीं हो सकते । एक बात । दूसरी बात यह है कि बुद्धि का अर्थ यहाँ ,विशुद्ध ज्ञान न समझें, किन्तु राग मिश्रित जो कल्पनाएँ होती हैं उसका नाम है बुद्धि । और जो ज्ञान का विरुद्ध फैलाव है उसका नाम है ज्ञान । तो जिस विषय में राग किया जा रहा है उस विषय में बुद्धि फैल गयी, अर्थात् बुद्धि लग गयी, बुद्धि न लगे तो रागभाव नहीं हो सकता । तो इस प्रकार की बुद्धि लगने पर शुभ और अशुभकर्म का निरोध न होगा । इस कारण एक ही अपने चित्त में कर्तव्य का निर्णय करें कि राग कलुषता विलास का कारण जो अध्यवसान परिणाम है वह अनर्थ परम्परावों का मूल कारण है ।

प्रतिपद विवेक—यहाँ निर्णय की बात चल रही है । निर्णय के समक्ष लोकव्यवहार की भी चिन्ता नहीं की जाती । अर्हद्भक्ति, दान, पूजा आदिक कर्तव्यों को ही यहाँ कहा जा रहा है कि ये हटाना चाहिए । यह एक वस्तुस्वरूप का निर्णय है । कर्तव्य की बात तो जो जिस पदवी में है उस पदवी में रहकर उस कर्तव्य को निभाता है । जैसे गृहस्थ पदवी में रहने वाले अविरत जनों से कोई साधु यह उपदेश करे कि तुम लोगों का काम तो यह है कि पूर्ण रूप से अहिंसा धारण करो, कोई मारे-पीटे तो पिट लो, कोई धन छीने तो छीन लेने दो, तुम ऐसा काम न करो

जिससे दूसरे को कष्ट हो, ऐसा कोई साधु गृहस्थों को उपदेश दे तो क्या गृहस्थ इस बात को निभा सकेंगे? अरे नहीं निभा सकते । तब उनके कर्तव्य का विधान स्पष्ट बताया है ।

अहिंसकता का विकास—आर्ष ग्रन्थों में चार प्रकार की हिंसायें बताकर यह दिखाया हैकि गृहस्थ संकल्पी हिंसा का तो पूर्ण त्यागी होती ही है । यदि वह विवेकी है, ज्ञानी है तो वह अपने इरादे से किसी भी जीव का अकल्याण नहीं चाहता । लेकिन आरम्भ के प्रसंगों में, उद्यमों के प्रसंगों में अथवा किसी शत्रु द्वारा आक्रमण हुआ हो ती वहाँ पर जो हिंसायें हो जाती हैं उन हिंसाओं का त्यागी यह अविरत गृहस्थ नहीं है । फिर संयमासंयम के बीच में जैसे-जैसे उसकी प्रतिमा बढ़ती रहती है, प्रतिज्ञा बढ़ती रहती है, आशय विरक्ति की ओर जाता है तैसे-तैसे उन तीन प्रकार की हिंसावों में भी उसका त्याग बढ़ता जाता है और संयत हो जाने पर तो सर्वप्रकार की हिंसावों का सर्वथा त्याग हो जाता है । अब रह गया यह कि वे साधु श्वास तो लेते हैं ओर श्वास लेने पर भी जीव मरते हैं तो जो इस तन, मन, वचन के अनुकूल किया ही न जा सकता हो ऐसी स्थिति अशक्यानुष्ठान में कहलाती है और आशय रंच भी किसी के घात को न होने से वहाँ वह अहिंसक ही कहलाता है ।

हिंसा का दोष—तो जैसे पदवियों के अनुसार कर्तव्य का विभिन्न-विभिन्न वर्णन है, पर विभिन्न वर्णन होते हुए भी सम्यग्दृष्टि गृहस्थ है यदि, तो अपने निर्णय में तो वह साधु की तरह ही वस्तुस्वरूप लिए हुए है कि भले ही गृहस्थ उन तीन हिंसावों का त्यागी नहीं है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि गृहस्थ को उन तीन हिंसावों का दोष नहीं लगता । जो भाव, जो कर्म जिस प्रकार के निमित्तनैमित्तिक भाव को लिए हुए होते हैं वहाँ फेर नहीं पड़ सकता । कर्मों के यह ज्ञान नहीं है, कर्म जड़ हैं । वे यह न सोच सकेंगे कि यह ज्ञानी गृहस्थ सम्यग्दृष्टि घर में रह रहा है अथवा अन्य कोई गृहस्थ सम्यग्दृष्टि ही न सही, घर में रह रहा है और इसका कर्तव्य हिंसावों के त्याग का बताया है और यह तीन हिंसावों को कर रहा है तो इसको हम न बाँधें । आगम में लिखा है ना । तो वहाँ यह बात नहीं है । वहाँ तो निमित्तनैमित्तिक भावों की जो विधि है उस विधि के अनुसार बन्धन होगा ही।

विरति व अविरति की स्थिति में हुई हिंसा का दोष—हाँ यह बात बतायी है आगम में कि गृहस्थ तीन हिंसावों का त्यागी नहीं है अर्थात् चार प्रकार की हिंसावों का त्यागी साधु संतपुरुष यदि उनमें किसी प्रकार की हिंसा करे तो उसके महादोष है, त्याग किए हुए को उसने पकड़ा और यह प्रवृत्ति उसमें कषायों की तीव्रता जगे बिना नहीं हुई । जैसे गृहस्थ एक साधारणरूप से रसोई बनाता है, खा लेता है और कोई मुनि किसी समय बड़ी ही शुद्ध विधि से कोई थोड़ी-सी रसोई बना ले और खा ले तो अंदाज करो कि साधु को कितनी तेज कषाय करनी पड़ी होगी अन्तर में तब वह ऐसी प्रवृत्ति कर सका । जो पुरुष जिस नियम पर रहता है उस नियम से च्युत होने के लिए कषाय तीव्र करना होता है, तब वह महादोष है । इस प्रकार का दोष तीन प्रकार की हिंसा में रहने वाले गृहस्थ को नहीं लगा ।

यथार्थ श्रद्धा व स्वरूपाचरणयत्न—भैया ! तो जैसे कर्तव्यपथ में पदवियों के अनुसार अलग-अलग विधान बताया है तिस पर भी स्वरूप यथार्थ सभी को समझना पड़ता है । इसी तरह गृहस्थ हो अथवा प्रमत्तविरत साधु हो, कर्तव्य के पथ में अपनी परिस्थिति के अनुसार अर्हद्भक्ति आदिक राग में लग रहा है वह फिर भी स्वयं निर्णय के मार्ग

से उसका अंतःकरण निरुपराग शुद्ध आत्मतत्त्व की भावना करने के लिए ही बना रहता है । इस प्रकार इस गाथा में यह शिक्षा दी है कि राग का लेश भी हो तो वह दोष परम्परा को बढ़ाने वाला होता है । अत: कोशिश यही करें, श्रद्धा में यही बात लाये कि मुझ में राग का लवलेश भी उत्पन्न न हो और उस रागद्वेष रहित शुद्ध निर्विकल्प अन्तस्तत्त्व में रमकर सर्वसंकटों से मुक्त होने का एक सच्चा मार्ग प्राप्त करें ।

गाथा 169

तम्हा णिव्वुदिकायो णिस्संगो णिम्ममो य हविय पुणो ।
सिद्धेसु कुणदि भत्तिं णिव्वाणं तेण पप्पोदि ।।१६९।।

निर्वाणयात्रा में निःसङ्गता—चूंकि रागादिक की अनुवृत्ति होने पर चित्त में उद्‌भ्रम उत्पन्न होता है, डांवाडोलपना चित्त का रहता है अथवा बुद्धि भ्रान्त रहा करती है और उस बुद्धि की भ्रान्ति होने पर कर्मबन्ध होता है । इस कारण मोक्ष चाहने वाले पुरुषों को नि:शंक होकर, निर्मम रहकर सिद्ध प्रभु की भक्ति करना चाहिए, इससे निर्वाण की प्राप्ति होती है । प्रत्येक पदार्थ नि:संग है तभी पदार्थों का अस्तित्व रहता है । अपने स्वरूप से ही रहना, पर के स्वरूप से न रहना, पर के द्रव्यगुण पर्यायों से विविक्त रहना यही नि:संगता है । यह आत्मा भी अपने ही सत्त्व से है । समस्त परपदार्थ उन द्रव्य गुण पर्यायों से विविक्त हैं, इस कारण आत्मा भी नि:संग है । ऐसे नि:संग आत्मतत्त्व की जब यह जीव सुध नहीं रखता तो कल्पना में यह परिग्रही बन जाता है, बाह्य परिग्रहों से परिग्रही कोई होता ही नहीं है । किसी-किसी जीव के बाह्य परिग्रह लगे हैं तो भी स्वरूप में तो निष्परिग्रही यह आत्मा है ही । केवल अन्तरंग परिग्रह जो आत्मा का जोड़ रक्खा है, कल्पनाएँ, विकल्प, मूर्छा इन अन्तरङ्ग परिग्रहों के दूर होने से यह आत्मा निष्परिग्रही कहलाता है । नि:संग आत्मतत्त्व से विपरीत बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहों से रहित होने के कारण जीव नि:संग हो जाता है । जिसे निर्वृत्ति की इच्छा है उसे नि:संग होना चाहिए ।

निर्वाणयात्रा में निर्ममता—जो मुक्ति चाहता है, सर्व झंझटों से बन्धन से छुटकारा चाहता है उसका कर्तव्य है कि पहिले यह स्वीकार करे कि मैं इन सब बन्धनों से रहित स्वरूप वाला हूँ और फिर यथाशक्ति ऐसी अपनी वृत्ति रखें जिसमें बाह्यपरिग्रहों का सम्बन्ध न रहे ।मोक्ष चाहने वाले पुरुषों को निर्मम होना चाहिए । लोकव्यवहार में निर्मम होने को गाली समझते हैं । यह पुरुष बड़ा निर्मम है, लेकिन ममता तो जीव का विकार भाव है । लोग तो चाहते हैं कि हम पर दूसरों की ममता जगे, हमारी लोग सेवा करें, पालन पोषण करें, इस कारण से ममता का आदर रखते हैं, पर मोक्ष के प्रसंग में इन ममतावों से तो जीव की हानि है, अतएव ममता का लवलेश भी न रहे ऐसी जो निर्ममता है, ममकाररहित परिणाम है ऐसे परिणामों में रहकर मुक्ति की प्राप्ति का उपाय बनाना है ।

चैतन्यशक्ति की उपासना से सिद्धि—यह मैं आत्मा चैतन्यप्रकाशरूप हूँ, जिसमें रागादिक उपाधियों का सम्बन्ध नहीं है, ऐसे आत्मतत्त्व से विरुद्ध है यह मोहविकार । उस मोह के उदय से ममकार आदिक विकल्पजाल उत्पन्न होते हैं, उन विकल्पजालों से जो रहित बन जाय उसका नाम है निर्मम अथवा निर्मोह कहो । तो मुक्ति चाहने वाला पुरुष नि:संग होकर, निर्मोह होकर सिद्ध में भक्ति करे । जो आत्मा अपने आप सहज सिद्ध है, शाश्वत है ऐसा

जो चैतन्यस्वभाव उस ही भाँति कल्पनाएँ करके देखी गयी जो शक्तियाँ हैं उन शक्तियों की भक्ति करें ।

लोक में शक्ति की उपासना—कुछ सम्प्रदाय शक्ति की भक्ति करते हैं । जैसे दुर्गा देवी के भक्त जितने लोग होते हैं उनमें कुछ तो मुद्रा की भक्ति करते हैं । जो दुर्गा की मुद्रा बनायी जिस प्रकार भी उस रूप को देखकर उपासना करते हैं और कुछ लोग मुद्रा की उपासना नहीं करते, किन्तु एक जो शक्ति है संहार शक्ति अथवा पालन शक्ति, जो भी उन्होंने कल्पना में समझा है उस शक्ति की उपासना करते हैं, ठीक है, शक्ति की उपासना करने वाले दुर्गा का सही स्वरूप समझें और उसकी शक्ति का सही स्वरूप समझें, फिर उपासना करें तो उन्हें भी रास्ता मिल सकता है ।

दुर्लभ विभूति और उसकी शक्ति—दुर्गा नाम किसका है । दु:खेन गम्यते या सा दुर्गा, जो बड़ी मुश्किल से प्राप्त की जा सके उसका नाम दुर्गा है । जरा निगाह डालकर तो देखो यह आत्मा प्राप्त क्या किया करता है? धन प्राप्त कर नहीं सकता, अन्य जीवों को पा नहीं सकता, क्योंकि यह मैं आत्मा रूप, रस, गंध, स्पर्श से रहित अमूर्त तत्त्व हूँ, इसमें तो इसकी परिणतियाँ जगती हैं और उन्हीं परिणतियों के होने का नाम प्राप्त करना है । मैं क्या प्राप्त कर सकता हूं? अपने आपमें अपने ही परिणमन में प्राप्त कर सकता हूँ । तो अब सर्वपरिणमनों में से ऐसे परिणमन को खोजो जो परिणमन बड़ी कठिनाई से मिलता है । विषयकषायों के परिणमन अनादिकाल से जीव के साथ चले आ रहे हैं, ये बड़े आसान लग रहे हैं । प्रत्येक जीव संसार के विषय और कषाय में मग्न हैं । वे परिणतियाँ तो दुर्गा नहीं हैं, केवल एक निर्विकार शुद्ध अंतस्तत्त्व की अनुभूति यह बड़ी कठिनाई से मिलती है । देखो ना जहाँ आँख उठाकर देखो । जितने लोग दिखते हैं, जितने पशु पक्षी दिखते हैं सबकी परिणतियाँ विषयों में कषायों में बड़ी आसानी से लग रही हैं । केवल एक अपने आपकी ऐसी अनुभूति जहाँ कोई विकल्प नहीं है, केवल चैतन्यप्रकाश का अनुभव है ऐसा शुद्ध अंतस्तत्त्व का अनुभव ही वास्तव में दुर्गा है जो बड़ी मुश्किल से प्राप्त होता है, उस अनुभूति की शक्तिरूप में उपासना करिये ।

उपासनाओं का मूल प्रयोजन—वह अनुभूति किस आधार से हुई है, किसका आलम्बन लेकर करना है, ऐसी शाश्वत जो चिर शक्ति है उस शक्ति को एक भेदरूप में विस्तृत करें तो शाश्वत सहज ज्ञान, सहजदर्शन, सहज गुण आदिक अनेक सहज गुण विदित होते हैं । उन गुणों में भक्ति करें तो मुक्ति प्राप्त हो सकती है । कोई समय था जब लोगों में धर्म का वातावरण विशेष था और उस धार्मिक वातावरण में धर्म का प्रतिपादन कभी अलंकारिक रूप में भी चला करता था । तो उस समय के जो अलंकारिक शब्द हैं, जिनकी उपासना के लिए धर्ममार्ग में बताया था वे सब आज भिन्न रूप से देवी देवताओं के रूप रखने लगे हैं किन्तु समस्त उपासनाओं का प्रयोजन मूल में इस सहन सिद्ध प्रभु की उपासना का ही है । आज जितने भी मजहब, जितने भी धर्म भिन्न-भिन्न रूपों को लेकर प्रकट हुए हैं उन सबका प्रारम्भ में जब कि एक ही धार्मिक वातावरण था, सबका उद्देश्य कोई एक था, बाद में विचार धारायें और अर्थ प्रतिपादन की प्रक्रियाएँ भिन्न-भिन्न होने से मजहबों के रूप हो गए ।

पारमार्थिकी भक्ति —सभी लोग आखिर धर्ममार्ग में तब सन्तोष पाते हैं जब अपने आपकी ओर झुकते हैं और तभी एक परमविश्राम मिलता है । यह सब क्या है? नि:संग होने का और निर्मम होने का रूप । जिन्हें मुक्ति चाहिए

वे नि:संग हों और निर्मम बनें, शुद्ध गुणों की तरह जो अनन्त ज्ञानादिक आत्मा के गुण हैं उनमें भक्ति करें। वास्तविक भक्ति क्या है? पारमार्थिक जो निज अंतस्तत्त्व है उसका स्वसम्वेदन ही वास्तविक सिद्धभक्ति है। इस सिद्धभक्ति के परिणाम से जो शुद्ध आत्मा की उपलब्धि होती है यही निर्वाण है। इस निर्वाण की प्राप्ति के लिए सर्वप्रयत्नों से रागादिक की अनुवृत्ति समाप्त करनी होगी। रागादिक भाव प्रकट हुए हैं उसके अनुकूल आशय बनाना इसका नाम है रागादिक की अनुवृत्ति। रागादिक भाव प्रकट होते हैं, उस रागादिक भाव में उपयोग का जोड़ना इसका नाम है रागादि की अनुवृत्ति। इसके अतिरिक्त जो अन्य अबुद्धिपूर्वक राग उत्पन्न होते हैं जिन्हें यह शुद्धोपयोग से ग्रहण भी नहीं करता है वे सब तो अपने आप ही दूर हो जाते हैं।

रागविनाश के ठौर—रागादिक दूर किये जाने के ये तीन मुख्य ठौर हैं। रागादिक के अनुकूल आशय बनाना यह तो है मिथ्यात्व की पदवी। अभिप्राय बना बनाकर रागादिक उत्पन्न करना और रागादिक होते हैं उनमें उपयोग का लगाना यह दूसरी पदवी का राग हो सकता है। ऐसी स्थिति मिथ्यात्व में भी हो सकती है और सम्यक्त्व में भी हो सकती है अर्थात् आत्मा में रागादिक होते हैं तो उन रागादिकों की प्रेरणा से उपयोग स्व की ओर न रहकर रागादिकों के साधनों की ओर चला जाय, यह बात सम्यग्दर्शन के होने पर भी किसी हद तक सम्भव हो सकती है और मिथ्यादृष्टियों के तो यह होती ही रहती है, किन्तु तीसरे दर्जे की जो रागादिक स्थितियाँ हैं, वे अविदित रहती हैं। राग हो गया, जिस आत्मा में राग हुआ, न उसको उपयोग ने ग्रहण किया, न उसने समझ ही पाया कि हुआ राग। यों अबुद्धिपूर्वक राग होकर वह अपने आप समाप्त हो जाता है।

उपदेश्यता—अबुद्धिपूर्वक राग को दूर करने के लिए तो उपदेश क्या है, किन्तु जो बुद्धिपूर्वक राग करता है, मिथ्यात्व अवस्था में विपरीत अभिप्राय रखकर राग करता है उसे त्यागने का उपदेश हो सकता है, और सम्यक्त्व होने पर भी आसक्ति के कारण रागादिक में उपयोग लगता है। जैसे सम्यग्दृष्टि गृहस्थ श्रावक जब दूकान मकान परिजन सर्वप्रकार के प्रसंगों में है तो क्या उसका उपयोग कभी इनमें जाता नहीं, हाँ प्रतीति अवश्य विशुद्ध रहा करती है। तो उस समय में भी जो रागादिक होते हैं उनके भी त्याग का उपदेश किया जाता है और प्रमत्त अवस्था में साधु जनों के भी जो रागादिक हुए वे धर्मानुराग हैं, उनके भी परिहार का उपदेश किया जाता है। जिसे मुक्ति की अभिलाषा है उसे रागादिक की अनुवृत्ति का तो समाप्ति करण करना ही चाहिए।

स्वसमयरतता—जब ये रागादिक दूर हुए तो आत्मा में पारमार्थिक सिद्धभक्ति उत्पन्न होती है। जो अपने आप सिद्ध है ऐसे निर्मल शुद्ध आत्मद्रव्य में ही विश्राम पा लेना, विकल्प तरंग न होना, ऐसी अपनी जो अभेद पारमार्थिक सिद्ध भक्ति है उसको धारण करते हुए यह जीव स्वसमय परिणति वाला होता है। यह हुआ स्वसमयरत। जो दर्शन, ज्ञान और चारित्र में स्थित है उसे स्वसमय कहा गया है। जब ऐसे स्वसमय का प्रकाश होता है तो समस्त कर्मबन्ध दूर होते हैं और अन्यत्व की सिद्धि, सदा के लिए कर्मजालों से मुक्ति उसके प्रकट होती है।

गाथा 170

सपयत्थं तित्थयरं अभिगदबुद्धिस्स सूत्तरोइस्स।
दूरतरं णिव्वाणं संजमतवसंपओत्तस्स ।।१७०।।

सूक्ष्म परसमयता—इस प्रकरण में पूर्व की कुछ गाथाओं में सूक्ष्म परसमय का व्याख्यान किया है । जैसा कुछ परसमयपना साधुजनों में भी पकड़ में न आये, ऐसा भी सूक्ष्म होता है । यह तो मोटे परसमय की बात है कि कोई साधु अपनी मुद्रा को निरखकर ऐसा विश्वास रखे कि मैं साधु हूँ, मुझे ऐसे-ऐसे व्रत लेना है, मुझे यों चलना चाहिए, यों बैठना चाहिए, और शिष्यजनों को हम से इस तरह का व्यवहार करना चाहिए, मैं साधु हूँ, मैं मुनि हूँ, आचार्य हूँ । मुझे सही व्यवस्था रखनी चाहिए । इस प्रकार की अगर अपने स्वरूप में श्रद्धान है, अन्तरंग में विकल्प बने हुए हैं, तो वह तो मोटा परसमयपना है । सूक्ष्म परसमय की बात तो वहाँ है जहाँ निर्दोष परमात्मा की उपासना की जा रही है, उनके गुणों में भक्ति की जा रही है, और वे उस भक्ति में ही रत और संतुष्ट हो रहे हैं, वहाँ है सूक्ष्म परसमयता । जो बात कहने सुनने में धर्म की लग रही है और व्यावहारिकता में धर्म की बात भी है—प्रभुभक्ति करना, साधु भक्ति करना, गुरुसेवा करना धर्म की बात भी है, फिर भी इस ओर लगा हुआ उपयोग और इस तरह का उपयोग भी लगा है और अपने आपके शुद्ध अन्तस्तत्त्व की प्रतीति भी है तो देखो कि धर्म की बात लग रही है, किन्तु वहाँ हो रहा है परसमयपना । इसमें भी सूक्ष्म परसमयपना यह है कि सम्यक्त्व होने पर भी शुद्ध प्रतीति होने पर भी पर की ओर जो जितने काल उपयोग लग रहा है उतने काल यह परसमय है ।

परसमयता की हेयता—यों समझ लीजिए कि परसमयपना मिथ्यादृष्टि के और कभी-कभी सम्यग्दृष्टि के भी जगता है, पर सम्यग्दृष्टि के परसमयपने का अर्थ केवल इतना है कि यह सम्यग्दृष्टि उस समय अपने आपके आत्मा की अनुभूति में न रहकर बाह्यपदार्थों के परिज्ञान में और उनकी व्यवस्था में लग रहा है । मोक्ष के प्रसंग में तो परसमयपना रंच भी नहीं होना चाहिए । इस गाथा में यह बात कह रहे हैं कि संयम और तप में भी कोई लगा हुआ हो, श्रुत की, आगम की रुचि भी रखता हो, जीवादिक पदार्थों के और तीर्थंकरों के प्रति भी जिनका बुद्धि लग रही हो, उनमें आदरभाव कर रहा हो ऐसे जीव का भी निर्वाण दूर है ।

परसमयता के विश्लेषण से शिक्षण—इस गाथा में जो अर्थ बताया है, उससे हमें कई बातों की शिक्षा मिलती है । साक्षात् तो यह शुभोपयोगरूप प्रवर्तन मोक्ष का हेतु नहीं है, इस कारण इसका दूर निर्वाण है । इसका भाव यह है कि यह परम्परा मोक्ष का कारण है । जो पुरुष मोक्षमार्ग में उद्यमी हुए हैं और जिन्होंने अचिन्त्य विलक्षण महान संयम और तपश्चरण के भार को भी धारण किया है अर्थात् संयम और तपश्चरण का पालन भी जो खूब करते हैं, किन्तु अपनी प्रभुशक्ति की, प्रभुभक्ति की जिन्हें सम्भावना नहीं है जो परम भूमिका में चढ़ाने वाली शक्ति है ऐसी शुद्ध शक्ति की जिनके चित्त में सम्भावना नहीं जगती है वे पुरुष निर्वाण की रुचि करते हुए भी अरहंतादिक शुद्ध आत्मतत्त्व की भक्ति करते हुए भी उस भक्ति को, उस रुचि को छोड़ने के लिए उत्साहित नहीं होते, वे भी साक्षात् मोक्ष को प्राप्त नहीं करते । थोड़े से शब्दों में इसका भाव यों समझिये कि अर्हद्भक्ति अथवा तत्त्वचर्चा आदिक ९ पदार्थों का श्रद्धान अवगम किए हुए भी चित्त में यह बात नहीं आती कि यह अर्हद्भक्ति भी एक राग का अंश है और यह राग का अंश भी इस जीव का स्वरूप नहीं है, ऐसी बात चित्त में न आये तो वह उस रागांश से दूर होने के लिए उत्साह नहीं कर सकता है ।

शुभ राग के छोड़ने का विधान—भैया ! अर्हद्भक्ति के राग से दूर होने के बाद यदि अभिन्न सहज सिद्ध चैतन्यस्वभाव

के सम्वेदनरूप पारमार्थिक भक्ति आती है तो वह तो है शुभराग के छोड़ने का विधान, और इस प्रकरण को सुनकर अर्हद्भक्ति को छोड़ना आसान समझकर छोड़ दे और सहज स्वभाव में उसकी भक्ति न जगे, स्वसम्वेदन न बने तो वह उस शुभराग के छोड़ने का सही विधान नहीं है । शुभराग छोड़कर अशुभ राग में नहीं गिरना है, किन्तु शुभराग छोड़कर शुभ अशुभ दोनों से रहित नीरंग निर्मम शुद्ध अन्तस्तत्त्व के सम्वेदन में आना है और इस ही लक्ष्यसिद्धि के लिए शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के रागों का त्याग कराया जाता है ।

शुद्ध अन्तस्तत्त्व में रति का उत्साह—जो जीव शुभ राग को छोड़कर शुद्ध सम्वेदन रूप परिणति बनाने के लिए उत्साहित भी नहीं हैं वे पुरुष देवलोक आदिक के क्लेश की प्राप्ति में समय गुजारकर परम्परा से भविष्य में कभी मोक्ष पायेंगे, वर्तमान में नहीं पाते हैं, उस समय शुभ राग से होता है पुण्यबंध और पुण्यबंध से प्राप्त होगा देवलोक । उस देवलोक को भी ज्ञानीजीव क्लेश मानते हैं । क्लेशरहित अवस्था तो निर्विकल्प शुद्ध चैतन्यस्वरूप का अनुभव है, यह जिन्हें प्राप्त होता है वे ही वास्तव में अमर हैं । उनको फिर कोई आकुलता नहीं रहती है । यहाँ शिक्षा दी है कि जिसे निर्वाण चाहिए वह शुभ अशुभ रागों से विविक्त शुद्ध अन्तस्तत्त्व में रति करे ।

स्वरूपप्रतपन—जो साधु बहिरङ्ग में तो इन्द्रियसंयम और प्राणसंयम के बल से रागादिक उपाधियों से रहित निर्विकल्प ज्ञान को अपने शुद्ध आत्मा में संयत करने का यत्न कर रहे हें, ये साधु ख्याति, पूजा, लाभ अथवा अनेक मनोरथ विकल्पजालों की दाहों से जो रहित हैं इसी कारण वे अपने शुद्ध आत्मा में अपने उपयोग का संयम करने के लिए स्थितिकरण कर रहें हैं, संयमी हैं, शुद्ध हैं, सम्यग्दृष्टि हैं और अनशन आदिक अनेक प्रकार की बाह्य तपस्यावों के बल से वे अपना अंतरङ्ग तप भी बढ़ा रहे हैं । अन्तरङ्ग तप है सर्व परद्रव्यों की इच्छा का अभाव करना, निरोध करना । ऐसी अन्तरङ्ग तपस्या के बल से ये साधुजन नित्य आनन्दस्वरूप एक विशुद्ध आत्मस्वभाव में तप रहे हैं, इस अपने आप में विजय पा रहे हैं, अतएव वे तपस्या से भी युक्त हैं । ऐसी विशिष्ट योग्य विजय होने पर भी जब कभी चूँकि उत्तम संहनन आदिक नहीं होने से योग्य प्रकार से शक्ति का विकास नहीं होता तब इस भाव में, निर्विकल्पसमाधि में निरन्तर ठहरने के लिए असमर्थ हो जाते हैं । उस समय ये मुनिजन क्या किया करते हैं, इसे सुनिये ।

शुभोपयोगप्रवर्तन का कारण—जिनका लक्ष्य विशुद्ध है और जब कभी अपनी उस लक्ष्मी का आलम्बन भी कर लेते हैं, निर्विकल्प समाधि में उत्पन्न हुए सहज शुद्ध आनन्द का अनुभव भी कर लेते है, इतनी विशिष्टता होने पर भी विशिष्ट संहनन आदिक शक्तियों का अभाव होने से जब वे अपने इस लक्ष्य में ठहर नहीं पाते हैं उस समय वे कभी तो शुद्ध आत्मा की भावना के अनुकूल जीवादिक पदार्थों का प्रतिपादन करने वाले आगम की रुचि करते हैं । शुद्धरुचिक साधु के वचनों को सुनें तो उस तत्त्व मर्म को जानकर चित्त में हर्ष उत्पन्न करना ये सब शुभोपयोग किया करते हैं और कभी उस शुद्ध आत्मतत्त्व की बात दिखाने वाले, सुनाने वाले, मार्ग बताने वाले साधुजनो का सन्मान दान सेवा आदिक किया करते हैं ।

अनुराग का प्रभाव—जैसे कि किसी पुरुष को अपनी स्त्री से अधिक अनुराग है और उसकी स्त्री अपने माता पिता के घर है, मायके में है, उस स्वसुराल से कोई पुरुष आये हों तो यह पुरुष उन पुरुषों का बड़ा आदर करता

है । आदर करता जाता है पर लगन लगी है स्त्री प्रेम की ही ना, अतएव स्त्री की बात भी बीच-बीच में पूछता जाता है । उनका सन्मान इसलिए कर रहा है यह पुरुष, चूंकि उसके प्रेम के एक साधन मात्र स्त्री के ग्राम से आये हुए ये पुरुष हैं, उनसे स्त्री की खबर विशेष मिलेगी आदिक आशय है, अतएव वहाँ से आये हुए पुरुषों का सन्मान करता है, उनकी सेवा करता है । ऐसे ही जिस ज्ञानी संत को शुद्ध अंतस्तत्त्व की तीव्र रुचि जगी है उस शुद्ध अन्तस्तत्त्व के नगर के निवासी जो साधुसंत पुरुष हैं उन साधु संत पुरुषों का सन्मान दान पूजन आदिक करते हैं, करते जाते हैं और उनकी मुद्रा को देख-देखकर शुद्ध अन्तस्तत्त्व खबर लेते रहते हैं, और कभी तो विनम्र होकर उस शुद्ध अंतस्तत्त्व की कुशलता का समाचार भी पूछते हैं, उस शुद्ध अंतस्तत्त्व के प्रभाव का, चमत्कार का भी वर्णन सुना करते हैं । यों ये साधु संत पुरुष जो निर्विकल्प समाधि में स्थिर नहीं रह पाते हैं वे क्या-क्या किया करते हैं उसका यह वर्णन चल रहा है अर्थात् वे शुभोपयोग से अपने आत्मा को पुण्यरूप कर रहे हैं ।

ज्ञानियों के पुराणपुरुषों की कथा के श्रवण का लक्ष्य—ये भव्य संत कभी इस मुक्तिलक्ष्मी को वश करने के लिए निर्दोष परमात्मा तीर्थंकर परमदेव के चरित्र पुराण भी सुनते हैं ।गणधर देव, सागर, भरत, राम, पांडव आदिक अनेक महापुरुषों के चरित्र पुराणों को सुनते हैं, वे भी ऐसी कुशल उस मुक्ति लक्ष्मी को वश करने के लिए सुनते तो सही उनका कुछ चरित्र, उनकी करामातें, जिन्होंने इस मुक्तिलक्ष्मी को वश कर लिया है अर्थात् मुक्त हो गए हैं, ऐसे पुरुषों की जीवन चर्चा सुनते तो सही, परन्तु अपने लिये वे शिक्षा लेते रहते हैं । क्या किया, कैसे रहे, घर में रहे तो किस प्रकार जल से भिन्न कमल की नाई रहे । साधु हुए तो किस प्रकार से पुरुषार्थ प्रकट करके समस्त उपसर्ग संकटों को कैसे उन्होंने दूर किया, कैसे कष्टसहष्णु बने और कैसे उन्होंने ध्यान किया, कैसे निज में गुप्त रहे? अहा, यों-यों, तभी तो आखिर मुक्तिश्री उनके वश हो ही तो गयी । ये भव्य संत ऐसी मुक्तिश्री को जिन्होंने वश में किया है उनका चरित्र भी सुनते हैं, एक तो यह प्रयोजन है महापुराण पुरुषों के चरित्र सुनने का।

अनुराग का योग्य धाम में न्यास—महापुरुषों के चरित्र सुनने का दूसरा यह प्रयोजन है कि अब यहाँ राग का उदय आया तो जैसे कुछ मंत्रवादी ऐसा किया करते हैं कि देखो ये ओले पड़ने ही वाले हैं, ये रुकते नहीं हैं तो उन ओलों को दूसरी ऐसी जगह गिरा देते कि जहाँ नुक्सान न हो और अपनी खेती बच जाय । तो इसी तरह ये रागादिक के ओले पड़ने वाले हैं, ये निवारें नहीं जा रहे, ऐसे प्रवाह से उठने वाला राग है तो अब इस राग को कहाँ पटके, कहाँ लगाये जिससे हमारे शुद्ध अन्तस्तत्त्व की रक्षा बन सके, उन्हें ये शुभराग में लगाते हैं, चरित्र सुनें पुराण सुनें । वहाँ यह भाव है कि कही यह राग खोटी जगह लग जायगा, विषयकषायों के साधनों में लग जायगा तो फिर संसार लम्बा हो जायगा ।

अंतस्तत्त्व के अनुरागियों की सावधानी—जिन्होंने आत्मा के हित की धुन बनायी है ऐसे साधु पुरुष कैसे सावधान रहते हैं? उनको केवल आत्महित ही प्रिय है, संसार का कोई वैभव उन्हें रुचिकर नहीं है । जो कुछ वे करते हैं इस शुद्ध अन्तस्तत्त्व की सिद्धि के लिए करते हैं । ये अशुभ राग से हटने के लिए शुभ धर्म का अनुराग उत्पन्न करते हैं और इस तरह उस अनुरागवश महापुरुषों के चरित्र भी सुनते हैं । जो कोई पुरुष गृहस्थ हो तो वह भेद और अभेद रत्नत्रय की भावना की सिद्धि करने वाले आचार्य, उपाध्याय, मुनिजनों की पूजा आदिक करता है, यह

बतायी जा रही है उन ज्ञानी साधकों की बात कि जो लक्ष्यरूप पहुंच तो गए हैं और कभी-कभी लक्ष्य का अनुभव भी कर लेते हैं, अद्भुत विचित्र आनन्द का अनुभव भी होता रहता है, किन्तु अपनी विशिष्ट संहनन आदिक शक्तियाँ न होने से जब वे इस निर्विकल्पसमाधि में स्थिर नहीं रह पाते तो वे क्या किया करते हैं, इस बात का वर्णन चल रहा है । लो यों शुभोपयोग किया करते हैं यह उसका उत्तर है । इसके फल में उनपर बीतती क्या है, इसे भी सुनो ।

ज्ञानियों के शुभोपयोग का प्रभाव—शुद्धोपयोग का लक्ष्य रखने वाले और कभी-कभी शुभोपयोग में प्रवृत्ति करने वाले ऐसे इन पुरुषों की चूंकि शुभोपयोग में प्रवृत्ति है और शुद्धोपयोग का लक्ष्य है, इन दोनों के समन्वय के कारण, शुद्धोपयोग के लक्ष्य के कारण अनंत संसार की स्थिति का छेद तो हो गया । अब ये संत पुरुष अनन्त संसार के पात्र नहीं रहे, निकटभव्य हैं, कुछ काल बाद मुक्ति प्राप्त करेंगे। लेकिन ये तद्भाव मोक्षगामी नहीं हैं। जो शुभोपयोग में प्रवृत्ति रखते हैं उनका उस भव से मोक्ष नहीं है, नहीं है मोक्ष तो भी पापास्रव का भाव तो नहीं, पुण्यास्रव का परिणाम तो है ना । उस पुण्यास्रव के परिणाम से उस भव में ये निर्वाण तो प्राप्त नहीं करते, किन्तु इस भव के बाद अन्य भव जो पायेंगे वे देवेन्द्रादिक उच्च पद पायेंगे, लो पा लिया देवादिक पद । वहाँ विमान परिवार आदिक अनेक विभूतियाँ मिलीं, तो चूँकि पूर्वभव में इनको शुद्धोपयोग का लक्ष्य था और उसके संस्कार में पले हुए इन जीवों ने देवेन्द्र पद पा लिया तो भी उस संस्कार के कारण ये उस विभूति को तृण के समान गिन रहे हैं ।

ज्ञानियों के शुभोपयोग की परम्परया मोक्षहेतुता—इस जीव को इस परिवार और अन्य वैभव परिग्रहों से कौनसी सिद्धि होगी? यह तो केवल अपने स्वरूप मात्र है । इसमें जो कुछ गुजरता है, परिणमन होता है वह सब इसका परिणमन है । उसमें दूसरा पदार्थ क्या करता है? प्रत्येक पदार्थ प्रत्येक पदार्थ से अत्यन्त भिन्न है । यह विभूति क्या है, जड़ पुद्गलों का संचय है, परमाणुवों का पुञ्ज है, यह तृणवत् है, हितरूप नहीं है । ऐसी मान्यता में वे ज्ञानी उस देव पदवी के योग्य धर्मसाधन में व्यतीत करते हैं, विदेह क्षेत्र में जाकर, जहाँ कि सदैव तीर्थंकर विराजमान रहते हैं, उन महाविदेहों मे जाकर समवशरण में वीतराग सर्वज्ञदेव के दर्शन करते हैं और निर्दोष परमात्मा के आराधक गंगाधर देव आदिक के भी दर्शन करते हैं और वहाँ परमेष्ठियों के दर्शन करके अपने धर्म में और दृढ़ होते हैं । अवधिज्ञानबल से पूर्वभव की बातों का स्मरण करके अथवा जो कुछ सुना करते थे, जो पूर्वभव में समझा था कि ऐसे-ऐसे अरहंत प्रभु होते हैं, लो अब मैं यहाँ साक्षात् दर्शन कर रहा हूँ, उससे तो और दृढ़ता होती है । तब वे चतुर्थगुणस्थान में जिस स्थिरता के साथ आत्मभावना बन सकती है उस आत्मभावना को अब ये देवेन्द्र छोड़ते नहीं हैं । जिस परिणति से, जिस भावना से आत्मा में विशुद्ध आनन्द जगा है उस आनन्द का अनुभव करने के बाद उसे छोड़ने को चित्त कैसे चाहेगा? चाहे उस आनन्द को ही बारबार न पा सकें, देर तक न पा सकें, लेकिन दृष्टि उस भावना की ओर ही रहती है । इस प्रकार धर्म में दृढ़ चित्त होते हुए ये स्वर्ग लोक में अपना समय व्यतीत करते हैं ।

शुद्धोपयोग और शुभोपयोग के समन्वय की स्थिति—यह बात सुनाई जा रही है अन्तस्तत्त्व के परिचयी शुभोपयोगी मोक्षमार्गी जीवों की । साधुपद से लेकर कि जहाँ विशुद्ध लक्ष्य समझ में आया था और उस लक्ष्य के अनुसार

आत्मीय अनुभव भी जगा करता था । लेकिन उस अनुभव को सदा रखने की सामर्थ्य नहीं जग पायी थी, तब उन्होंने इस स्थिति में क्या किया और उसके फल में क्या मिला? चूंकि वहाँ शुद्धोपयोग का और शुभोपयोग का एक समन्वयसा बना हुआ था, उसके फल में देवेन्द्र हुए । देवेन्द्रों की शोभा इसी में है, उनका बड़प्पन इसी में हैकि ऐसी बड़ी विभूति पाकर जो मनुष्यों के सम्भव नहीं है, चक्रवर्तियों के भी सम्भव नहीं होता ऐसी महर्द्धिक विभूति को पाकर उसे भी तृण के समान समझे । इस थोड़ी-सी विभूति को पाकर उसको चित्त में चिपकाये रक्खे, यह तो मोही जनों का काम है, जिनको संसार में और अनेक कुयोनियों में रुलने का काम पड़ा हुआ है । महंत पुरुष तो वे हैं कि जो कुछ उन्हें मिला है उसे तृणवत् समझते हों । ये देवेन्द्र जिनके कई हजार देवांगनाएँ हुआ करती हैं, जिनका शासन असंख्यात देवों पर चल रहा है, जिन में अनेक प्रकार के चमत्कार करने वाली ऋद्धियाँ प्रकृत्या मिली हुई हैं, जिनका शरीर दिव्य है, कई-कई हजार वर्षों में क्षुधा की कुछ वेदना होती है और वह भी कंठ से अमृत झर कर शान्त हो जाती है, कई-कई पखवारों में श्वास लेने का कष्ट करना पड़ता है । ऐसे बड़े सुखों से सम्पन्न ये देवेन्द्र उस सारे वैभव को तृण के समान देख रहे हैं और समय व्यतीत कर रहे हैं धर्म के अनुराग में, भगवान की भक्ति में । समवशरण में जाना, प्रबंध करना, गणधर आचार्य आदिक का भी विनय सम्मान बनाना—ये सब शुभोपयोग के कार्य भी देवेन्द्र कर रहे हैं ।

पूर्वसंस्कार का प्रभाव—ज्ञानी तपोधन ने देवेन्द्रादिपद में जन्म लेकर सागरों पर्यन्त का, असंख्यात वर्षों का समय धर्म प्रवृत्तियों में व्यतीत किया, उसके बाद जीवन के अंत में जब देवायुकर्म का क्षय होने को है, उस क्षण के बाद वे स्वर्ग से आकर मनुष्यलोक में चक्रवर्ती आदिक जैसी बड़ी विभूतियों को प्राप्त करते हैं । लोग अपने घर पुत्र के उत्पन्न होने पर बड़ी खुशियाँ मनाया करते हैं । खुशी क्या मनाते हैं, खुशी खुश होकर मनानी पड़ती है । भला ऐसे स्वर्गो में जो बड़े देवेन्द्र थे, जिनकी अतिशय ऋद्धियाँ थीं, जिनका बड़ा चमत्कार था, जिन्होंने असंख्यात वर्ष जैसे लम्बे समय तक उस धर्म का अनुराग भरा अतिशय पुण्य कमाया, ऐसा जीव यहाँ किसी मनुष्य के यहाँ उत्पन्न हो तो उसका पुण्य क्या यहाँ न करायेगा? उसके पुण्य का यह प्रताप है कि सारे नगर के लोग उसकी खुशी मनाते हैं । भला जो किसी महामंडलेश्वर राजा के चक्रवर्ती होने वाला पुत्र बने या अन्य वैभववान पुत्र बने तो उसे बचपन से ही बड़ा वैभव प्राप्त होगा । इतनी विभूति प्राप्त कर के भी धन्य है वह ज्ञानी पुरुष भले ही वह अभी बालक है, लेकिन पूर्वभव में जिस शुद्ध आत्मतत्त्व की भावना की थी उसके संस्कार मिटते नहीं हैं, वे बने हुए हैं । उस शुद्ध अन्तस्तत्त्व की भावना के उपयोग से इतनी बड़ी विभूतियों को पाकर भी उनमें मोह नहीं करते हैं ।

जन्मजात निर्मोहता—ये ज्ञानी पुरुष जब तक यहाँ गृहस्थी में है तब तक भी उस वैभव के बीच रहकर निर्मोह हैं, और अनेक बालक तो ऐसे भी होते होंगे कि जन्म से लेकर अन्त तक उन्होंने वस्त्र भी न पहिने हों । १०-१२ वर्ष तक तो बालक अब भी नंगे ही फिरा करते थे । कुछ वर्षों के बाद से यह प्रथा चली है कि चाहे ६ माह का भी बालक हो उसे भी कुछ न कुछ पहिना दिया करते हैं । देहातों में अथवा देहातों के जो वृद्ध लोग हैं उनसे पूछो तो वे बतायेंगे कि १०-१५ वर्ष के बालक नग्न ही रहा करते थे । हुए हों कोई ऐसे बालक जो ७-८ वर्ष ऐसे ही नंगे रहे और फिर मिल गया सुयोग कहीं मुनिधर्म सुनने का, प्रतिभा विशेष हो, ज्ञान आ जाय और वह निर्ग्रन्थ

दीक्षा धारण कर ले, यह एक बात कही जा रही है । कभी उन्होंने अगर कपड़े पहिन भी लिये हों तो उसको गौण करके इस बात को सुनो । हुए हैं कोई ऐसे योगिराज । कितने ही लोग गृहस्थावस्था में गृहस्थी के सब कुछ काम करके भी उस विभूति को तृणवत् गिनते हुए उस वैभव से विरक्त रह-रहकर गृहस्थावस्था से विरक्त रहकर विषयसुखों का परित्याग करके जिनदीक्षा को ग्रहण करते हैं ।

निर्विकल्प समाधि की पुष्ट स्थिति—अब ज्ञानी पुरुष की वही स्थिति फिर आ गयी जो स्थिति इनके तीसरे भव पहिले थी । लेकिन उस स्थिति की अपेक्षा अब इस भव में बल विशेष मिला है । तब निर्विकल्प समाधि का लक्ष्य तो था और उस समाधिबल से आत्मतत्त्व का बहुत-बहुत बार स्पर्श भी किया करते थे, लेकिन उसकी स्थिरता न होने से वे शुभोपयोग में अपना समय भी गुजारते थे, लेकिन अब इस भव में उन्हें ऐसा महान बल मिला है कि निर्विकल्प समाधि का अब उत्कृष्ट विधान बन रहा है, उस बल से विशुद्ध ज्ञानदर्शनस्वभावी निज शुद्धआत्मा में वे स्थित हो रहे हैं ।

अन्तस्तत्त्व के परिचर्या के अन्तस्तत्त्व के अनुभव की सुगमता—जैसे यहाँ जिस करोड़पति को करोड़ों का वैभव मिला है उसे वह सुगम और सस्ता सा दिखता है । जिसे अरबों का वैभव मिला है उसे वह भी सस्ता सा दिखता है, भले ही शतपति, हजारपतियों के लिए वह बड़ी कठिन बात सी लग रही हो, पर जिसका जहाँ प्रवेश है, अधिकार है उसे वह सुगम नजर आता है । इस दृष्टान्त के अनुसार क्या कहें, इससे भी विलक्षण बात यह है कि जिसे अपने शुद्ध आत्मतत्त्व का स्पर्श हुआ है, अनुभव जगा है उसे तो यह इतना सुगम मालूम होता है काम, कि कठिन है कहाँ? यह स्वयं ही ज्ञानानंदघन है, ज्ञानस्वरूप है, बस इस निज उपयोग से इस निज ज्ञानस्वरूप को निहारने में कौनसी मुसीबत है? यह तो अत्यन्त सुगम काम है ।सुगम काम में स्थिरता अधिक रहती है ।

स्वच्छ ध्यान—इस निर्विकल्प समाधि के बल से यह जीव इस शुद्ध ज्ञानस्वभावी निज शुद्ध आत्मतत्त्व में स्थिर हो गया है । ऐसा स्थिर हो गया है कि अब यह प्रथक्त्ववितर्कवीचार शुक्लध्यान से भी ऊंचा उठकर एकत्व वितर्क अतीचार शुक्लध्यान में स्थित हो गया है । शुक्लध्यान का अर्थ है सफेद ध्यान, निर्दोष ध्यान । राग के रंग की रंच कणिका भी न रहना और राग के सम्बन्ध से जो अस्थिरता उत्पन्न हुई थी याने ज्ञप्तिपरिवर्तन हुआ था उस ज्ञप्तिपरिवर्तन कर्म से भी रहित ऐसा सफेद ध्यान शुक्लध्यान परिणाम करके यह जीव शेष समस्त घातिया कर्मों का विनाश करके कुछ समय बाद अघातिया कर्मों का क्षय करके परमोत्कृष्ट मोक्ष अवस्था को प्राप्त करता है ।

गाथा 171

अरहंतसिद्धचेइयपवयणभत्तो परेण णियमेण ।
जो कुणदि तवोकम्मं सो सुरलोगं समादियदि ।।१७१।।

शुभोपयोग की शिवावरोधकता का समर्थन—अरहंत आदिक शुद्ध आत्मावों में भक्ति करने मात्र से भी उत्पन्न हुआ जो राग है वह राग भी साक्षात् मोक्ष का अंतराय रूप हैं । इस विषय का वर्णन पूर्व गाथा में भी किया गया था और अब इस गाथा में भी उस ही का समर्थन कर रहे हैं । जिस किसी प्रसंग में जो बात विशेषतया कही हुई है वह एक बार ही कहे जाने में सन्तोष उत्पन्न नहीं होता, उसका दुबारा समर्थन किया जाता है और इसी की ही

नकल सोसाइटियों में है । प्रस्तावक ने प्रस्ताव किया, समर्थक ने समर्थन किया, इसके बाद बहुसम्मति से पास होता है । प्रथम बार कहना एक प्रस्तावरूप होता है और उसका दुहराना एक समर्थन की चीज बन जाती है । जो चीज उपादेय है, जिस तत्त्व पर अमल करने में हित है उसके वक्तव्य के बाद समर्थन हुआ करता है । यहाँ कोई खास आवश्यकता न थी कि कही हुई बात को फिर पुन: दुहराया जाय, लेकिन धर्म के काम पर धर्मानुराग अथवा शुभोपयोग ही कहीं जीव के अन्तिम लक्ष्य की चीज न बन जाय, इस कारण करुणा करके आचार्यदेव साधुसंतजनों को प्रतिबोधित करने के लिए दुबारा भी यही बात कह रहे हैं । जो पुरुष अरहंत सिद्ध चैत्य और प्रवचन की भक्ति में परायण हुए हों, उत्कृष्ट नियम के साथ तपस्यारूप सत् कर्म को करते हैं, तपश्चरण करते हैं वे पुरुष स्वर्गलोक को प्राप्त करते हैं ।

पुराण पुरुषोत्तम—अरहंत कहलाते है—पुराणपुरुषोत्तम । अच्छा बताओ अरहंतदेव मनुष्य हैं या नहीं? कुछ तो झिझक होती है कि हम उन्हें मनुष्य कैसे कह दें, वे तो परमात्मा हैं और मनुष्य न कहें यह भी तो ठीक नहीं है । आखिर मनुष्यगति में ही तो हैं, इसी कारण उन्हें पुराण पुरुषोत्तम शब्द से कहा गया है । अरहंतदेव अब लोकव्यवहार में प्रवृत्ति नहीं करते हैं । मोह रागद्वेष से सर्वथा रहित हो गए हैं, केवलज्ञान केवल दर्शन से सम्पन्न हो जाने के कारण वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं । वे हम आप लोगों की तरह किसी की बात सुनें और उसका जवाब दे ऐसी भी प्रवृत्ति उनके नहीं है । जैसे लोग किसी बड़े आदमी का सम्मान सेवा करते हुए अन्तर में श्रद्धा और विनयमय भय दोनों रखते हैं, उनका भय दोषरूप नहीं होता किन्तु गुणरूप बन जाता है । श्रद्धा के साथ लगा हुआ भय दोषरूप नहीं होता, वह विनय रूप में परिणत हो जाता है ।

प्रभु की छत्रछाया में—प्रभु अरिहंतदेव की भक्ति में उनके विहार प्रबंध में, उनके उपदेश-प्रबंध में इन्द्र कुबेरदेव सभी जन सहयोग देते हैं, व्यवस्था बनाते हैं बड़ी श्रद्धा से, फिर भी उनमें से कोई अथवा मनुष्यों में से कोई भगवान के निकट पहुँच जाय, बात करने लगे, ये सब बातें नहीं बन पाती हैं क्योंकि वहाँ सभी जीवो की श्रद्धा और विनयपूर्ण भय अथवा विनय ही बहुत भरा हुआ है और दूसरी बात यह है कि लोग बोलकर करें क्या? उनके राग और द्वेष नहीं है । प्रभु के रागद्वेष नहीं हैं इतने मात्र से इनकी बड़ी भक्ति नहीं हुआ करती, साथ ही वे सर्वज्ञ सर्वदर्शी हैं, गुणसम्पन्न हैं इस कारण तीन लोक के इन्द्र उनकी भक्ति में रत रहा करते हैं । यही भी तो कोई पुरुष ऐसे होते हैं कि जिन्हें किसी ओर का पक्षपात नहीं होता ।राग और द्वेष से वे अलग रहा करते हैं, लेकिन उनमें कुछ और गुण हों, जानकारी हो, हित की भावना भी हो, हित का कार्य भी करें तो लोगों का आकर्षण उनकी ओर विशेष होता है ।तो प्रभु भगवान में निर्दोषता और गुणसम्पन्नता दोनों ही प्रकट हैं, उनकी भक्ति में इसी कारण तीनों लोक के जीव रहकर अपने जन्म को सफल मानते हैं ।

प्रभुदर्शन से नि:संदिग्धता—अरहंतदेव की मुद्रा के दर्शन करते ही जिसके चित्त में जिस प्रकार की शंकाएँ उठ रही हों उन शंकाओं का समाधान उनके ही ज्ञान स्फुरण के कारण हो जाय करता है, और इतने पर भी न हो कदाचित तो प्रभु की दिव्यध्वनि सुनकर जो चित्त में एक हर्ष उत्पन्न होता है जो कि अत्यन्त विलक्षण है, उस हर्षातिरेक के समय में ऐसा ज्ञान स्फुरण होता है श्रोताओं के कि शंका का समाधान वे स्वयं प्राप्त कर लेते हैं । भैया! शंका

का उठना भी योग्यता पर निर्भर है । जो जितने क्षयोपशम वाला होगा वह उस सीमा के भीतर ही तो कुछ शंका उत्पन्न कर सकेगा योग्यता के भीतर ही शंका उत्पन्न होती है तो उसका समाधान स्वयमेव हो जाता है । कठिनाई तो तब पड़ती है कि कोई पुरुष बड़ी तेज सूक्ष्म शंका कर ले और उतनी योग्यता थी नहीं तो उसका समाधान मिलना कठिन होता है । यों यह अतिशय भी अरहंत प्रभु के दर्शन और दिव्यध्वनि के श्रवण में प्राप्त होता है ।

विरोधियों की विरोधसमाप्ति—तीसरा अतिशय जो एक अंत: प्रभाव पैदा करे वह है बैर विरोध के भाव के समाप्त कर लेने का । समता की मूर्ति सर्वज्ञ सर्वदर्शी प्रभु के निकट पहुँचने पर चूँकि यह भक्तिभाव से प्रभु पादमूल में गया ना, अतएव उसके चित्त में अब बैर विरोध का स्थान नहीं रहता है ।

विपरीतवृत्तियों का, समवशरण में अस्थान—शास्त्रों में यह वर्णन है कि समवशरण में मिथ्यादृष्टि जीव नहीं पहुंचते । उसका अर्थ सभी मिथ्यात्व दृष्टि जीवों से नहीं है, किन्तु जिन में उद्दण्डता है, जिनका परिणाम विनय से युक्त है ही नहीं, ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव समवशरण में नहीं पहुँच सकते । जिनका होनहार भला नहीं है वे मिथ्यादृष्टि क्यों नहीं पहुंचते? उसमें दो कारण हैं जो नहीं पहुँचने देते । प्रथम तो यह है कि ऐसे उद्दण्ड मिथ्यादृष्टि का भाव ही नहीं हो सकता कि हम समवशरण में जाये, अत: वह स्वयं जाता ही नहीं है । कदाचित कोई उद्दण्डता मचाने के लिए जाय तो वहाँ देवशक्ति का इतना उच्च प्रबंध है कि वे जाने नहीं देते हैं । किन्तु वहाँ कोई मिथ्यादृष्टि पहुँचता ही नहीं है—यह बात घटित नहीं होती, क्योंकि वहाँ अनेक जीवों को सम्यक्त्व पैदा होता है तो कैसे होता है और यह भी वर्णन आता है कि यह जीव अनेक बार समवशरण भी पहुँचा, किन्तु सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं हुआ यह भी बात कैसे घटे? हाँ यह बात अवश्य है कि उद्दण्ड मिथ्यादृष्टि वहाँ पहुँच नहीं सकता ।

अर्हद्भक्ति की बुनियाद व फल—सर्वज्ञ सर्वदर्शी सर्व हितैषी अरहंतदेव, जरा सुनिये, प्रभु वीतराग हैं सो अब तो हितैषी नहीं हो रहे हैं, मगर हित का काम तो कर ही रहे हैं तब हितैषी के एवज में हितोपदेष्टा कहिये । ऐसे प्रभु अरहंतदेव की भक्ति तभी तो बनेगी जब वैराग्य से चित्त ओतप्रोत होगा । यों ही केवल राग-राग में अर्हद्भक्ति नहीं बनती, किन्तु किसी अंश में वैराग्य है, किसी अंश में राग है, ऐसी स्थिति में अर्हद्भक्ति बना करती है । इस अर्हद्भक्ति में जो शुभ अनुराग है, धर्म का अनुराग है, अल्प राग है, ऐसे अध्यवसाय भाव से जो जीव के विभाव का वातावरण बनता है वह साक्षात् मोक्ष को प्रदान करने में अन्तराय करता है और वह परिणाम देव आयु देवगति का बंद कराता है और इसके फल में यह जीव स्वर्गलोक में अथवा ऊर्द्धलोक में, नवग्रैवेयक आदिक में सर्वार्थसिद्धि तक में यह जीव उत्पन्न हो जाता है । वैराग्य की अधिकता हो तो यह सर्वारिसिद्धि तक पहुंच जाता है, किन्तु अर्हद्भक्ति की प्रमुखता हो तो यह स्वर्गलोक में उत्पन्न हो जाता है । वहाँ क्या बीतती है सो इसे भी सुनिये ।

अर्हद्भक्ति का पुण्यफल—स्वर्गलोक में १६ स्वर्गों तक के देव प्रवीचार सहित हैं, केवल ब्रह्मलोक की दिशा विदिशाओं में रहने वाले लौकान्तिक देव इस वासना से रहित हैं । लौकान्तिक देव देवर्षि कहलाते हैं । देव होने पर भी वे ऋषि तुल्य हैं, द्वादशांग के पाठी हैं, विशिष्ट ज्ञानी हैं और इनको वैराग्य में ही रुचि रहा करती है । यद्यपि ये भी संयम धारण नही कर सकते, क्योंकि शरीरादिक की स्थितियां ऐसी ही हैं, किन्तु इन्हें प्रेम होता है वैराग्य से । और इसी कारण तीर्थंकर भगवान के गर्भ में, जन्मकल्याण में, ज्ञानकल्याण में, निर्वाणकल्याण में भी ये सम्मिलित

नहीं होते, किन्तु तपकल्याण में ये सम्मिलित हुआ करते हैं । इसी कारण तीर्थङ्कर प्रभु को वैराग्य होने पर ये लौकान्तिक देव आते हैं और प्रभु के वैराग्य का समर्थन कर चले जाते हैं । तो लौकान्तिक देवों को छोड़कर १६ स्वर्गों तक के देवों में प्रवीचार होता है और जैसे-जैसे नीचे के स्वर्ग हैं वहाँ प्रवीचार की विशेष प्रमुखता है, सो वे देव विषयविषरूपी वृक्ष के सुगंध से मोहित बने रहा करते हैं ।

रम्यलीनता—जैसे कभी कोई पथिक रास्ता चलते-चलते किसी ऐसे बगीचे के निकट से निकलता है जहाँ बहुत ही मीठी सुहावनी सुगंध चल रही है तो वहाँ यह पथिक कैसा मोहित होता है कि कुछ ठिठक जाता है और वहाँ जो कुछ विचार उत्पन्न हुए थे वे सब रुक जाते हैं, उस सुगंध का उपभोग करने में रति हो जाने के कारण अन्य विचार दूर हो जाते हैं । स्वर्गों में ये देव सागरों पर्यन्त विषयों में लीन रहा करते हैं । खेद के साथ यहाँ आचार्यदेव बता रहे हैं, इनसे उनका अन्तरङ्ग मोहित हो गया है, उनका विवेक भी ज्ञान भी मोहित हो गया है ।

विषयविषरति की अनर्थता—यह मोह, विषयविष का प्रेम जीव का अनर्थरूप है । यहाँ शान्ति और सन्तोष का नाम नहीं है । उन समागम और विषयसाधनों में क्या तत्त्व रखा है? जो अशान्ति और असन्तोष को ही उत्पन्न करें । मोही जीव केवल कल्पना में ही तो अपने आपको महान समझ लेते हैं, सुखी समझ लेते हैं, किन्तु वे सुखी हैं कहाँ? ऐसी बात बीतती है उस स्वर्गलोक में, यह किस परिणाम का फल है? अरहंत आदिक की भक्ति में बुद्धि जिनकी लगी है ऐसे पुरुष जो परमसंयम प्रधान अति विशेष तप को करते हैं उस तपश्चरण के निमित्त से बंध को प्राप्त हुए विशिष्ट पुण्य का यह फल मिला है, इतने ही मात्र राग से जिसका हृदय कलंकित हो गया है वह पुरुष साक्षात् मोक्ष से तो वंचित है ही, पर ऐसे स्वर्गलोक में उत्पन्न होकर राग ज्वालावों से सागरों पर्यन्त पच-पचकर क्लेश पाते रहते हैं ।

अनवधानीय क्लेश—भैया ! एक दुःख तो होता है व्यक्त दुःखी की भी समझ में आने वाला और एक दुःख ऐसा होता है जो उस दुःखी की भी समझ में नहीं आ रहा है, किन्तु हो रहा है दुःखी, हो रहा है अशान्त व्याकुल । पर अपनी व्याकुलता को वह व्याकुलता नहीं समझ पाता । हाँ उन विषयसाधनों के प्रसंग में कभी कोई अन्तराय आये तो वहाँ यह व्याकुलता समझता है । वह व्याकुलता आर्तध्यान में हुई, रौद्रध्यान में कोई पुरुष अपनी व्याकुलता की परख नहीं करता । आर्तध्यान में व्यक्त समझ में आता है दुःखी जीवों को भी कि मैं दुःखी हो रहा हूँ । स्वर्गलोक में रौद्रध्यान की प्रधानता है । जैसे नरकगति में आर्तध्यान की प्रधानता है ।जो जीव सुखपूर्वक रहा करते हैं, बड़े साधन सम्पन्न हैं ऐसे जीवों में प्राय: रौद्रध्यान की प्रमुखता रहती है । जो विषयों के साधन पाये हैं उनके संरक्षण में उनके उपभोग में वे आनन्द माना करते हैं । वह मौज की बुद्धि दुखों से भरी हुई है, अज्ञान से भरी हुई है । वे अन्तरङ्ग में बड़े संतप्त रहा करते हैं ।

पुण्य का बन्धन—यद्यपि ये पुरुष साधु संत शुद्ध आत्मा को उपादेय मान रहे हैं, यह सम्यग्दृष्टियों की चर्चा है, अज्ञानी तपस्वियों की बात नहीं कह रहे, सम्यग्दृष्टि ज्ञानी साधु संतों के भी जो कि शुद्ध आत्मा को उपादेय समझ रहे हैं वे व्रत तपश्चरण आदिक भी करते हैं और निदान का परिणाम भी उनके नहीं है, वे शुद्ध हैं, निर्दोष हैं, इनके यह भी वाञ्छा नहीं उत्पन्न हुई थी कि मैं देवगति में जाऊँ, इन्द्र बनूं, वहाँ का वैभव पाऊँ, यह निदान भी नहीं

था, वे विशुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव शुद्ध भावों से ही तपश्चरण कर रहे थे, किन्तु संहनन आदि की शक्ति न होने से वे शुद्ध आत्मस्वरूप में ठहर तो नहीं सके ना । तो ऐसी स्थिति में प्रथम भव में उनके पुण्यबंध हो रहा है । साक्षात् मोक्ष का काम नहीं बनता है, क्योंकि जो शुद्ध आत्मस्वरूप में स्थिर नहीं हो पा रहे वे कहीं राग करेंगे ही । चूँकि यह ज्ञानी पुरुष है, अतएव अरहंत आदिक शुद्ध तत्त्वों में राग कर रहा है । उस पुण्यबंध के प्रताप से यह स्वर्गलोक में जाकर देव होता है ।

देशनाभक्ति—शुद्ध तत्त्व की भक्ति के प्रकरण में अरहंतदेव की भक्ति का प्रथम नाम यों लिया करते हैं कि ये अरहंतदेव हमारी सारी उल्झनों के दूर करने में मूल में निमित्तरूप हैं । अरहंतदेव की दिव्यध्वनि से शुद्ध आगम का विस्तार होता है, और इस आगम से ही जाना जाता है कि सिद्धप्रभु यों होते हैं, तीन लोक तीन काल की रचना यों है, सभी बातें जो हमारे ज्ञान और वैराग्य की निर्मलता में साधक हैं वे सब हमें आगम नेत्र से ज्ञात हुई हैं ।

चैत्यभक्ति—चैत्य चैत्यालय और प्रवचन इनका तो सम्बन्ध अरहंत भक्ति से है ही । चैत्य की भक्ति करना अर्हद्भक्ति ही है, क्योंकि चैत्य में प्रतिबिम्ब अरहंतदेव का ही तो है । ऊर्द्धलोक में, मध्यलोक में और जहाँ तक देवों का निवास है वहाँ तक अधोलोक में जो अकृत्रिम चैत्यालय हैं उनमें तीर्थङ्कर की मूर्ति नहीं है, किन्तु अरहंतदेव की मूर्ति है । अरहंतदेव की मूर्ति में चिह्न नहीं हुआ करते । जैसे बैल, घोड़ा आदिक २४ तीर्थङ्करों के चिह्न हैं, अरहंत भगवान की मूर्ति के निकट अष्ट प्रतिहार्यों का दर्शन होता है, क्योंकि अष्ट प्रतिहार्यों का सम्बंध अरहंत परमेष्ठी से है । ऐसे अरहंतदेव की अकृत्रिम प्रतिमाएँ अनुपम विलक्षण रचनाएँ हैं । उस प्रतिबिम्ब में अनेक परमाणु आते हैं और अनेक परमाणु जाते हैं, यों जहाँ पर परमाणुवों का यातायात होने पर भी वे अकृत्रिम प्रतिबिम्ब यथातथा ही रहा करते हैं ।

प्रवचनभक्ति—प्रवचन की भक्ति, शास्त्र की भक्ति, अर्हद्भक्ति रूप है । हम इन शास्त्रों से उस शुद्ध ज्ञायकस्वरूप का ही तो स्मरण किया करते हैं । जिन्होंने इस ज्ञायकस्वरूप स्व का अध्ययन नहीं किया उनके शास्त्र पढ़ने का नाम स्वाध्याय कैसे कहा जाय? वह तो बांचना है ।उपन्यास की किताब कोई पढ़े तो उसे कोई स्वाध्याय करना नहीं कहता । कहानी की किताब पढ़ने वाले को कोई यह नहीं कहता है कि यह स्वाध्याय कर रहा है । यदि कहानी की किताब की ही तरह इन ग्रन्थों का भी कोई वाचन कर ले तो उसका नाम स्वाध्याय नहीं हो सकता । जिस कथन प्रसंग में स्व का अध्ययन चल रहा हो वह है स्वाध्याय ।

विशुद्ध आशय में शिक्षाग्रहण की योग्यता—जैसे कोई-कोई पुरुष थोड़ी पूंजी वाला हो तो वह चाहता है कि इस पूंजी का मैं पूरा-पूरा लाभ उठाऊँ । कुछ भी रकम बेकार न पड़ी रहे । हर तरह से इससे लाभ उठा लूं । ऐसे ही आज के पंचमकाल में हम आप लोगों को यह ज्ञान की छोटी पूंजी मिली है तो विवेक तो यही है हमारा कि हम इस छोटी ज्ञान पूंजी के द्वारा पूरा-पूरा लाभ उठा लें, मेरा आशय निरन्तर विशुद्ध रहे । विषयसाधनों से अन्त: प्रीति न रहे, आत्महित का भाव जगे तभी यह आत्महितैषी पुरुष प्रवचन के प्रत्येक वाक्य से, आगम के प्रत्येक वचनों से वह आत्महित के लिए शिक्षा ग्रहण कर सकता है । दृष्टि चाहिए आत्महित की जिसकी दृष्टि आत्महित

की नहीं हुआ करती, केवल बाह्यदृष्टि रहती है, हम समाज में रहते हैं इसलिए हमें यह थोड़ा कुछ पढ़ लेने का भी काम कर लेना चाहिए, अथवा कुछ दिल बहलाना है, कहीं दिल नहीं लगता है तो यह कर लें अथवा देखें तो सही और लोगों के मामले, कौन किस तरह का कहते हैं अथवा लोगों में हमारा भी तो कुछ नाम आये, हम भी तो कुछ धर्मसाधना करने वाले हैं, धर्मात्मा है इस भाव से अथवा हमारे कुल में इस तरह की बातें चली आयी हैं वे तो निभाना ही चाहिए, ऐसे ही अन्य कारणों और आशयों पूर्वक प्रवचन का पढ़ना यह स्व का अध्ययन नहीं करने देता किन्तु एक ही आशय बना हो, मुझे स्वहित करना है—इस हितभावना से प्रेरित हो तो वह प्रत्येक वाक्यों से हित की शिक्षा ग्रहण कर सकता है ।

शुद्धोपयोग के लक्ष्य का प्रभाव—ये तपस्वीजन अरहंत आदिक में धर्मानुराग के कारण साक्षात् मोक्ष तो नहीं पाते, पर स्वर्गलोक को प्राप्त करते हैं—इसमें यह बात कही गई हैं कि श्रद्धा पूर्ण निर्मल रखना कि यह धर्मानुराग भी साक्षात् मोक्ष का अन्तराय है । फिर दूसरी बात यह समझना कि यह परम्परा मोक्ष का कारण है । ऐसी दृष्टि रखकर शुद्धोपयोग के लक्ष्य से चलें तो इससे हमें कल्याण का मार्ग मिलेगा ।

गाथा 172

तम्हा णिव्वुदिकामो रागं सव्वत्थ कुणदि मा किंचि ।
सो तेण वीदरागो भवियोभवसायरं तरदि ।।१७२।।

वीतरागता से भवसागर का तरण—पूर्व गाथावों में वीतरागता ग्रहण करने का उपदेश किया गया है । रागभाव से क्या-क्या अनर्थ होते हैं और राग के अभाव से क्या कल्याण होता है? इस सम्बंध में बहुत कुछ वर्णन करने के पश्चात् अब आचार्यदेव उस वर्णन से शिक्षा लेने की बात और उस शिक्षा पर अमल करने का फल इस गाथा में दिखा रहे हैं । इस ग्रन्थ में मोक्षमार्ग के विषय में वीतरागता का उपदेश दिया है । वीतरागता ही मोक्षमार्ग है, इस कारण से जिसको मुक्ति की कामना है वह पुरुष समस्त पदार्थों में किञ्चिन्मात्र भी राग को न करे । जो किसी भी पदार्थ में राग नहीं करता, वह पुरुष वीतराग होता हुआ संसारसमुद्र को तिरता है ।

वीतरागता में रत्नत्रयसमृद्धि—साक्षात् मोक्षमार्ग का कारण तो वीतराग भाव है, बन्धन का कारण रागभाव है । बन्धन के कारण का अभाव होने से मोक्ष होता है । बन्ध के हेतुवों के अभाव से और बन्ध हेतुवों के अभाव होने से, स्पष्टरूप से होने वाली विशद निर्जरा से कभी कर्मों का अत्यन्त वियोग हो जाता है इस ही का नाम मोक्ष है । वीतरागता ही मोक्षमार्ग है । वह वीतरागता यथार्थ ज्ञान और यथार्थ श्रद्धान बिना नहीं बनती । अतएव वीतरागता कहने में रत्नत्रय पूर्ण आ जाता है ।

वीतरागता का महत्त्व—भगवान प्रभु के वीतरागता और सर्वज्ञता दोनों बातें प्रकट हैं अर्थात् प्रभु पूर्ण ज्ञानसम्पन्न हैं और समस्त दोषों से रहित हैं, फिर भी कुछ दृष्टियों से परखा जाय तो इस वीतरागता का बहुत महत्त्व है । सर्वज्ञता भी वीतरागता के कारण प्रकट हुई है । सर्वज्ञता का कारण वीतराग भाव है । समस्त रागादिक दोषों का अभाव होने पर ही सर्वज्ञता प्रकट होती है । दूसरी बात यह है कि कदाचित् मान लो सर्वज्ञता तो न हो और वीतरागता रहे तो इसमें आत्मा का क्या टोटा पड़ा? क्योंकि समस्त क्लेशों का कारण राग है । राग का सर्वथा अभाव हो

गया तो वहाँ आनन्द तो प्रकट हो ही गया, और आनन्द ही इस जीव का सर्वोपरि लक्ष्य है । यों भी वीतरागता का बड़ा महत्त्व है ।

वीतरागता से ज्ञान का भी महत्त्व—वीतरागता होने पर सर्वज्ञता होती है, इसलिए कोई जीव वीतराग ही बना रहे, सर्वज्ञ न हो, ऐसा नहीं होता है, किन्तु एक हित अहित की दृष्टि से विचार किया जाय तो यों सोच लीजिए कि वीतरागता है तो आनन्द है । कदाचित् मान लो कोई पुरुष सर्वज्ञ तो हो और वीतराग न हो, यद्यपि वीतराग हुए बिना सर्वज्ञता नहीं होती, पर एक स्वरूप की विशेषता समझने के लिए कल्पना में यह लाइए, जैसे कि कोई मनुष्य बहुज्ञानी होता है, समस्त श्रुत का ज्ञानी है, अवधिज्ञान भी बहुत है, मनःपर्ययज्ञान से भी सूक्ष्म मनोविकल्प जान लिए जाते हैं, थोड़ा और बढ़ाकर कल्पनाएँ कर लो कि सबको भी जान लिया जाय, वीतराग न हो तो कुछ यहाँ थोड़ा जानते हैं, उस थोड़े जानने में इतना दुःखी है, क्योंकि राग मोह साथ लगा है ना । तो जिसके साथ राग लगा हो और सब कुछ वह जान जाय तो वहाँ दुःख का क्या ठिकाना रहेगा? एक यह कल्पना करके भी वीतरागता का प्रभाव समझ लीजिए । वीतरागता का कितना बड़ा महत्त्व है?

वीतरागता की शिवसाधनता—वीतरागता बिना चूँकि मुक्ति नहीं हो सकती, संसार के संकट समाप्त नहीं हो सकते, इस कारण जिन्हें मुक्ति की कामना है उन पुरुषों का कर्तव्य है कि सर्वविषयों में सर्वपदार्थों में किञ्चिन्मात्र भी राग न करें । इसमें बहुत-बहुत विस्तारपूर्वक यह बात दिखाई गयी थी कि विषयकषायों का लगाव, खोटे परिणाम, मन, वचन, काय का खोटी जगह प्रयोग करना ये सब पापों का आस्रव कराते हैं । यह राग तो त्याज्य होना ही चाहिए सभी सुखार्थियों को, किन्तु अरहंत सिद्ध चैत्य प्रवचन साधु आदि शुद्ध पदार्थों के सम्बन्ध में भी जो अनुराग होता है वह अनुराग यद्यपि कषायों से हटाने वाला रहने के कारण परम्परया मोक्ष का कारण है, किन्तु साक्षात् तो वह राग भी मोक्ष में अन्तराय बन रहा है । इस कारण यहाँ कह रहे हैं कि अरहंत आदि के विषय में भी पहुँचा हुआ राग स्वर्गलोक आदि के क्लेशों की प्राप्ति के द्वारा मन में अन्तर्दाह के लिए कारण बनता है अर्थात् पुण्य कार्यों के करने से पुण्यबंध हुआ, स्वर्गलोक में उत्पन्न हुए, वहाँ विषयों का अनुराग होने के कारण अन्तर में दाह बन रहा है । तब यह राग भी एक दाह का कारण बन गया, मुक्ति का कारण नहीं बन सका ।

दृष्टान्तपूर्वक शुभोपयोग की विरुद्धकार्यकारिता का समर्थन—जैसे चन्दन का वृक्ष शीतल होता है, ठंडक पैदा करता है, किन्तु जिस चन्दन के वृक्ष में आग लग रही है ऐसा आग लगा चंदन भी क्या ठंडक पैदा कर देगा? वह तो दाह ही करेगा । इसी प्रकार यह शुद्धोपयोगरूप धर्म और शुद्धोपयोग जिसके प्रकट हुआ है वह आत्मा विशुद्ध है, निर्दोष है, और उस शुद्धोपयोग का फल शान्ति और निराकुलता है, किन्तु उस शुद्धोपयोगरूप धर्म के साथ-साथ कर्मविपाकवश अरहंत आदिक सम्बन्धी राग लगा है तो राग लगा हुआ धर्म अर्थात् सराग चरित्र सरागधर्म यह भी अन्तर्दाह के लिए कारण बनता है । ऐसा मान करके हे साक्षात् मोक्ष की इच्छा करने वाले भव्यजनो ! समस्त कषाय सम्बंधी राग को छोड़कर अत्यन्त वीतराग होओ ।

धर्मपालन का मौलिक उद्यम—सभी का यह कर्तव्य है कि आत्मकल्याण के प्रसंग में श्रद्धान पूर्ण निर्मल और निर्णायक बनाएँ । हम कितना चल सकते हैं यह बात हमारी शक्ति विकास पर निर्भर है, लेकिन श्रद्धान तो हमारा

उतना ही निर्मल होना चाहिए जितना निर्मल साक्षात् मोक्षमार्ग पर चलने वाले साधु संतों का हुआ करता है । फिर उस श्रद्धान के अनुसार हम अपने को निर्मल बनाने का यत्न रखें, वह यत्न केवलज्ञानरूप है । उस विशुद्ध ज्ञान के जगने पर ये काम की क्रियायें सब रुक जाती हैं, अथवा अशुभ राग नहीं प्रवर्तती हैं, यह तो एक फलीभूत बात है, किन्तु किया, क्या आत्मा ने जिसके प्रसाद से ये सारे संकट दूर होते हैं? वह किया केवल विशुद्ध जाननहार बनना । केवल विशुद्ध जाननहार रहने में सभी गुण उदारता, त्याग, क्षमा, निराकुलता सबके सब उसमें आ जाते हैं । धर्मपालन तो यही है कि केवल जो जैसा पदार्थ है उसका वैसा मात्र जाननहार बना रहे, यही है साक्षात् धर्मपालन, और इसही धर्मपालन के लिए अन्य सर्व कार्य जो व्यवहारधर्म में किए जाते हैं, इसीलिए किए जाते हैं ।

संसारसमुद्र—हे भव्य जनों ! यदि मुक्ति चाहते हो तो समस्त पदार्थों में राग को छोड़कर इस संसार से तिरकर संसार से पार चले जावो । यह संसार एक भयंकर समुद्र की तरह है । जैसे समुद्र में बड़ी भयंकर कल्लोलें उठा करती हैं, एक-एक लहर एक-एक भींत बराबर भी उठ खड़ी हो जाती है । बड़ी भयंकर लहरें होती हैं । समुद्र के किनारे बहुत दूर भी खड़ा हुआ पुरुष भयभीत हो जाता है, और कितने ही लोग समुद्र के किनारे अथवा दूर चलते हुए भी समुद्र की ऐसी लहरों के लपेट में आकर अपने प्राण विसर्जन कर देते हैं । बड़ी भयंकर लहरें होती हैं । इस संसार की दुःख और सुख की भयंकर लहरें, इन्द्रियजन्य सुख और इन्द्रियजन्य दुःख, मानसिक सुख और मानसिक दुःख—ये ६ प्रकार के सुख और ६ प्रकार के दुःख की एक दर्जन कल्लोल लहरें इस आत्मा में हो रही हैं । ये तो एक मोटी कल्लोलें हैं । इनके भीतर भी कितनी ही और कल्लोलें पड़ी हुई हैं । ऐसी सुख दुःख की लहरों का भयंकर यह संसार-समुद्र है । दुःख को तो सभी लोग भयंकर समझ लेते हैं, सहा नहीं जाता, किन्तु सुख की भी लहरें कितनी भयंकर और क्षोभ उत्पन्न करने वाली हैं, इसे सर्वसाधारण नहीं जान सकते। किन्तु विवेकी पुरुष ही इसकी माप समझ सकते हैं ।

इन्द्रियसुख में क्षोभ की व्यापकता—ये संसार के सुख, इन्द्रियजन्य सुख काहे के सुख हैं जिन सुखों के संकल्प करने में भी क्लेश होता है, जिन सुखों का प्रोग्राम बनाने में भी क्लेश होता है जिन सुखों के साधनों का संचय करने में भी बड़ा क्लेश होता है और सुखों के साधन मिल गए तो उन सुखों के भोगते समय भी इस जीव में बड़े क्षोभ मचा करते हैं । इन्द्रियसुख शांतिपूर्वक भोगने में नहीं आते, किन्तु कोई क्षोभ है, वेदना है तब वे भोगने में आते हैं । चाहे उन सुखों के भोगने के फल में बीमार हो जायें अथवा अन्य-अन्य प्रकार की मानसिक बाधाएँ आ जायें, अपना धर्म और कर्म सब कुछ भी त्यागना पड़े, पर इन विषयभोगों को मोही जन छोड़ नहीं सकते । क्योंकि क्षोभ पूर्वक ही ये भोग भोगे गए हैं । भोगने के बाद भी अत्यन्त क्लेश रहता है, और सारी बात तो यह है कि इस सुख के प्रसंग में आदि से लेकर अन्त तक सब अज्ञानरूप ही परिणाम रहा । अज्ञान अंधकार एक बहुत बुरी परिस्थिति है ।

संसारसागर में अवगाह की विपदा—दुःख और सुख दोनों प्रकार की अनेक लहरों से व्याप्त यह संसारसमुद्र है, और फिर कोई शीतल जल भी नहीं है यहाँ । कर्मरूपी अग्नि से तप्तायमान और कलकल करता हुआ जल भार करके भरा हुआ यह संसारसागर है । एक तो भयंकर लहरें हैं और फिर तपा हुआ जल है तो उस समुद्र से कितना

अहित है, उस समुद्र में अवगाह करने का कितना कुफल है, ऐसे ही यह संसार एक तो सुख दुःख की लहरों से भरा हुआ है और फिर कर्म अग्नि से यह संतप्त है । हे भव्य जीवो ! ऐसे संसारसागर को तिर करके इस संसार से पार होओ ।

संसार की अरम्यता—इस संसार में मत रमो । इस भव से पार होने का उपाय एक वीतरागता है । हे आत्मन् ! तू अपने आप पर कुछ दया करना चाहता है या नहीं? अपने आपकी जिम्मेदारी महसूस कर । इस संसार में तू अकेला ही है । अनादिकाल से अकेला ही रहा आया है, अनन्त काल तक अकेला ही रहेगा । सुख में, दुःख में, जीवन में, मरण में सर्वप्रसंगों में तू अकेला ही है । जो पदार्थ समागम में मिले हैं ये पदार्थ तुझे भूल-भुलैया में पटकने के कारण बन रहे हैं । कितने दिनों का समागम है? यह तो थोड़े दिनों का समागम है, लेकिन ये समागम जगह-जगह फिर नवीन-नवीन मिलेंगे और तू वहाँ मोह करेगा तो वर्तमान स्थिति में तो ऐसा लगा है कि ये समागम बड़े सुखदाई मिले हैं, सो इनकी व्यवस्था और इनका मोह करके, राग करके सुख लूट लो, लेकिन ऐसे समागम बार-बार मिलते हैं, बिछुड़ते हैं और भिन्न-भिन्न प्रकार की स्थितियों को उत्पन्न करते हैं । इनमें कुछ सार नहीं है । मोह मत करो।

निर्मोहभाव की साध्यता—भैया ! यथार्थ ही सब निर्णय करो । यह सोचना भी एक भ्रम की बात होगी कि हम लोग गृहस्थ हैं, गृहस्थी से मोह कैसे छूट सकता है? मोह छुटाना तो उनका ही काम है जो घर त्यागकर साधु हुए हैं, अकेले रह गए हैं, उन्हें मोह छोड़ना चाहिए । भैया ! ऐसा भ्रम न करो जैनशासन की प्राप्ति अति दुर्लभ है, जैन शासन को पाया है तो उससे अपनी बुद्धि व्यवस्थित बनाये । कोई गृहस्थ भी हो तो भी वह मोह को पूर्णरूप से दूर कर सकता है । गृहस्थ राग और द्वेष की बात कर रहे हैं । राग और द्वेष गृहस्थी में रहकर दूर नहीं किए जा सकते, यह बात तो ठीक है । अथवा यों कह लीजिए कि जब तक रागद्वेष दूर नहीं किए जा सकते तब तक उसकी गृहस्थ जैसी स्थिति रहती है । करना पड़ता है, चारा क्या है, लेकिन मोह का हटा लेना तो सुगम है और सर्व साध्य है । मोह नाम किसका है? मोह के पर्यायवाची शब्द हैं अज्ञान, मिथ्यात्व । जो वस्तु अपने से अत्यन्त भिन्न है उसे अपनी मानना यही तो मिथ्यात्व हुआ । यह मेरा है, इससे मुझे सुख मिलता है, ऐसी कल्पनाएँ बनाना यही तो मोह है । यह ज्ञान क्या किया नहीं जा सकता है गृहस्थी में भी रहकर कि प्रत्येक पदार्थ अपने ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप है, अपने ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से अस्तित्व लिए हुए है, तब मेरा किसी अन्य द्रव्य से क्या सम्बंध है? आज जो निकट है, वह कल न रहेगा, और जो एक क्षेत्रावगाह भी हो रहा है, ऐसा यह शरीर भी न रहेगा । ये द्रव्यकर्म भी न रहेंगे, और की बात तो क्या कहें, एक क्षेत्र में और उसके ही परिणमनरूप उत्पन्न हुए ये रागादिक भी मेरे साथ नहीं रह सकते हैं, ये भी होकर नष्ट हो जाते है । क्या हम आप यह ज्ञान नहीं कर सकते ।

ज्ञान की अप्रतिघातता—आपके घर के भीतरी कमरे में तिजोरी में सन्दूक रखी हो, उसमें भी पोटरी में कोई गहना रखा हो तो आप यहाँ बैठे ही बैठे उसका ज्ञान कर लेते हैं कि नहीं? क्या घर के फाटक या सन्दूक आपके ज्ञान

करने में कोई बाधा डालते हैं? आप यहाँ बैठे हैं और ख्याल आ जाय उस गहने का तो आप तुरन्त उसका ज्ञान कर लेते हैं । ज्ञान को कहीं अटम होती है क्या? हाँ ज्ञान को अटका देने वाली कोई वस्तु है तो वह रागद्वेष की परिणति है । हम इस पिण्ड में भव में ठहरे हुए भी यदि सही-सही ज्ञान करना चाहें, प्रत्येक पदार्थ का जुदा-जुदा अस्तित्व निरखना चाहें तो झट निरख लेते हैं । कोई अटकाव करने वाली चीज है क्या? हम जो कुछ भी ज्ञान करना चाहें करते हैं, उसमें हम स्वतंत्र हैं । घर का कोई भी पुरुष कितनी भी मिन्नत करे, कितनी भी बाधा डाले और कुछ भी बात कहे तो वह एक विशुद्ध ज्ञान करने के कार्य में कुछ भी अटक नहीं डाल सकता है ।

मात्र ज्ञानभाव से मोह का प्रक्षय—प्रत्येक पदार्थ अत्यन्त जुदे-जुदे हैं, अपने-अपने ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से अस्तित्त्व रखते हैं, किसी भी पदार्थ से रंच भी सम्बन्ध नहीं है । एक संघातरूप में वस्तु स्कंधरूप, चौकी, तख्त, भीत, खम्भा आदिक किसी भी पदार्थ में अनन्त परमाणुवों का समूह है ना, वहाँ भी प्रत्येक पदार्थ अपने ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को लिए हुए हैं । कहीं दो परमाणु मिलकर एक सत् नहीं बन जाते हैं । इतनी तो वस्तुवों में परस्पर भिन्नता है, ऐसी भिन्नता गृहस्थ समझना चाहें तो क्या समझ नहीं सकते हैं? बस इसी के मायने है मोह का क्षय होना । निर्मोह गृहस्थ अभी चूँकि गृहस्थ जैसी परिस्थिति में वह है, रागद्वेष का त्याग नहीं कर सकता लेकिन मोह तो पूर्णरूप से छोड़ सकता है । क्या सम्यग्दृष्टि गृहस्थ हुआ नहीं करते? होते हैं ।

अचलित स्वरूपश्रद्धान का कर्तव्य—अपना निर्णय ती निर्मोह परिणाम रखने का होना ही चाहिए । मुझे तो सही ज्ञान बनाये रहना है, ऐसे निर्णय से रंच भी विचलित न हों । कभी ऐसे भी वज्रपात हों कि जिनके भय से ये तीन लोक के जीव भी अपना मार्ग छोड़ दें, पर इस निर्णय को रखने में हम कोई कमी न रखें । मैं सबसे न्यारा एक अमूर्त ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व हूँ, इसका कोई क्या बिगाड़ करेगा? डर लग रहा है जो कुछ यह स्वरूप की संभाल न होने से और परवस्तुवों में राग अथवा मोह होने से यह सब डर लग रहा है । जहाँ परपदार्थों में मोह नहीं रहा, राग नहीं रहा वहाँ डर किस बात का? लो बाबा यह मैं इतना ही ज्ञानानन्दमात्र हूँ, लो तुम को हम नहीं सुहाते, चले यहाँ से । जहाँ जायेंगे वहाँ ही हम ज्ञानानन्दस्वरूप रहेंगे, अर्थात् मरण प्रसंग भी हो तो लो क्या हर्ज हुआ? लो चले यहाँ से । हम-हम ही हैं, मैं मुझमें ही हूँ । मैं अपना ही अपने लिए सर्वस्व हूँ । ऐसे अपने एकत्व की ओर जिसका दृढ़ झुकाव है ऐसे पुरुष को कहाँ भय है?

अमृतस्नान—जो पुरुष निर्मोह होकर, वीतराग होकर संसारसागर को पार करता है वह स्वरूप रूप जो परम अमृत समुद्र है उसमें अवगाह करके शीघ्र ही निर्वाण को प्राप्त होता है । आत्मा तो ज्ञानानन्दस्वरूप है ही । इस ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा पर जो और लेप चढ़ गया है, जो इसमें विकार आया है उस विकार धूल से उस लेप से विमुक्त होने में जैसा यह स्वच्छ ज्ञानानन्द मात्र है बस वही प्रकट रह गया, इस ही अवस्था का नाम है मोक्ष । तो हे भव्य जीव ! यदि निर्वाण चाहते हो तो एक ही निर्णय रखो, निर्मोह बनो और सर्वपदार्थों में राग मत करो याने किसी में भी राग मत करो । वीतराग बनकर संसारसागर से तिरकर एक मोक्षरूपी अमृत समुद्र में अवगाह कर परमशान्ति प्राप्त करो । ऐसा इस गाथा में वीतरागता का उत्साह देने के लिए अन्तिम उपदेश है ।

स्नेह का बन्धन—संसार में अनुभव में आने योग्य जितने भी बन्धन हैं वे सब बन्धन मोह और स्नेह भाव से हैं,

यह बात कुछ विवेक करने पर अनुभव में आ जाती है । बन्धन तो मोह और स्नेह के पीछे लगा हुआ है । किसी विषयसाधन में स्नेह है और उसमें कोई बाधक बन रहा है तो उससे द्वेष होता है । द्वेष होने के मूल में भी कोई न कोई राग कारण है । यों एक स्नेह को ही कह लो कि यही बन्धन है । जिसे बन्धन से छूटना हो, मुक्ति का आनन्द लूटना हो उसका कर्तव्य है कि जिस किसी भी प्रकार यह स्नेहभाव दूर हो सके, ऐसा यत्न करे । जो निकटभव्य जीव है वह स्नेहभाव को दूर करने के लिए बड़ी विभूतियों का भी क्षणमात्र में परित्याग कर देता है । सर्वोपरि करुणा आत्मकल्याण है । अन्य स्नेहों की तो चर्चा दूर ही रहो । परमात्मप्रभु में भी पहुँचा हुआ अनुराग, यद्यपि वह धर्मानुराग है, पर उस अनुराग में भी पद्धति तो राग वाली ही है । अतएव इतना भी राग का लेश स्वर्गलोक के बंधन और क्लेश का कारण होता है । तब जिन्हें साक्षात् मोक्ष की इच्छा है वे किसी भी पदार्थ में राग न करके वीतराग होकर संसारसमुद्र से तिरकर केवल शुद्ध स्वरूप के अनुभवरूप निज अमूर्त सुधा समुद्र में अवगाह करके शीघ्र निर्वाण प्राप्त कर लेते हैं । इस सम्बंध में बहुत विस्तार करने से क्या लाभ है? अब जरा सारभूत तत्त्व पर एक बार फिर आइये ।

शास्त्रतात्पर्य—इस शास्त्र का तात्पर्य है वीतरागता । इस वीतरागता के लिए स्वस्ति हो, नमस्कार हो और यही उपादेय है, इस प्रकार की बुद्धिपूर्वक इसकी ओर आकर्षण हो । स्वस्ति शब्द में दो शब्द मिले हुए हैं—सु और अस्ति । सु का अर्थ है भली प्रकार अस्ति मायने होना, भला होना । स्वस्ति में नमस्कार और आशीर्वाद एवं जयवाद तीनों में समन्वय होकर जो कुछ एक भव बनता है उस भाव से प्रयोजन है स्वस्ति का । मोक्षमार्ग का सारभूत यह वीतराग भाव ही है । वीतरागता ही मोक्ष का मार्ग है । इस समस्त शास्त्र का तात्पर्य भी वीतरागता है, वह वीतरागता जयवंत हो । कुछ भी व्यक्त किया जाय उसमें दो तात्पर्य होते हैं—एक तो शब्द तात्पर्य और एक आशय तात्पर्य, जिन्हें प्रसंग में यों कह लीजिए—एक सूत्र—तात्पर्य और एक शास्त्रतात्पर्य । सूत्रतात्पर्य तो प्रत्येक सूत्र में बता ही दिया गया है । प्रत्येक गाथा में गाथा के समय गाथा का क्या अर्थ है, क्या भाव है, यह बता दिया गया । अब एक बार उन समस्त सूत्रों में जैसे समुच्चय रूप से तात्पर्य जानना है उसका नाम है शास्त्रतात्पर्य । एक वाक्य का भाव और एक समग्र वक्तव्य का भाव । वाक्य के भाव तो प्रति वाक्य की सीमा तक रहते हैं, उसका आगे के वक्तव्य से और पीछे के वक्तव्य से सम्बन्ध नहीं है, परन्तु समस्त वक्तव्य का भाव, उसमें समग्र वाक्य भी सम्मिलित हें और जो कुछ न कहा गया हो, अब कहा हो वे सब चूलिका के विषय भी सम्मिलित हैं । इस शास्त्र का तात्पर्य परमार्थ से वीतराग भाव ही हे ।

शास्त्र की परमेश्वरता—यह शास्त्र परमेश्वर है, परमेश्वर से आया हुआ है । प्राय: सभी धर्म वाले अपने-अपने शास्त्रों को ईश्वर के बनाये अथवा ईश्वर के भेजे आदिक रूप से मानते हैं । ये जैनशासन के आगम ये परमेश्वर के बनाये नहीं हैं, परमेश्वर के भेजे नहीं हैं, फिर भी इन समस्त आगमों का परमेश्वर से मौलिक सम्बन्ध है । परमेश्वर अरहंत भगवान जो सर्वज्ञ सर्वदर्शी हैं उनकी दिव्यध्वनि की परम्परा से यह समस्त आगम आया हुआ है । भगवान के समवशरण में बहुत बड़ी विशाल रचना होती है, वहाँ दर्शनीय १२ सभायें होती हैं, उन सभावों में किसी में मुनिराज बैठे हैं, किसी में श्रावक अर्जिकाएँ हैं, किसी में श्रावक हैं, किसी में भवनवासी आदिक देव हैं,

किसी में उनकी देवांगनाएँ हैं, किसी में तिर्यञ्च बैठे हैं, इस प्रकार उन १२ सभावों में सभी प्रकार के श्रोतागण होते हैं । समस्त श्रोताओं में मुख्य और धर्म संचालक गणधरदेव होते हें ।

आगम की निर्दोष परम्परा—मुनिराजों मे जो मुख्य हैं, गणों को धारण करने वाले हैं वे गणधर और उन गणधरों में भी प्रमुख गणधर जिनको गणेश भी कह सकते हैं वे नरलोक के समूह में सरस्वती के प्रधान अधिपति हैं, विद्यावों के प्रधान अधिपति हैं और इसी कारण विद्यारम्भ के समय में गणेश का स्मरण किया जाता । गणेश अर्थात् दिग्गज आचार्य, मुनिजन आचार्य, उपाध्याय जन समस्त गणों के स्वामी प्रधान हैं । जैसे महावीर स्वामी के समय में गौतम गणेश हुए हैं, इसी तरह चौबीसों तीर्थंकर के समय में प्रमुख एक गणेश हुए हैं । दिव्यध्वनि को सुनकर इन गणधर देवों ने द्वादशांग की रचना की और गणधरों से अन्य आचार्यों ने अध्ययन किया । आचार्यों से बड़े मुनियों ने अध्ययन किया, और यह परम्परा निर्दोष अब तक चली आ रही है कि इस परम्परा में श्रद्धा से सहित होकर जो कोई भी साधारण भी गृहस्थ कवि लेखक अपनी लेखनी चलाता है तो उस ही आगम के अनुसार अर्थ विस्तार करके लेखनी चलाता है । यों यह आगम परमेश्वर से प्रणीत है, परमेश्वर से लाया हुआ है, परमेश्वर के द्वारा प्रज्ञप्त है अर्थात् जताया हुआ है, ऐसा यह परमेश्वर शास्त्र है ।

शास्त्र का तात्पर्य वीतरागभाव—इस परमेश्वर शास्त्र का तात्पर्य एक वीतराग भाव है । शास्त्रों का हितकर और सारभूत एक ही उपदेश है जो राग करता है वह कर्मो से बँधता है, जो राग नहीं करता वह कर्मों से छूटता है, इस कारण मुक्ति का आनन्द चाहने वाले संत जनों को समग्र पदार्थों से रागभाव का परित्याग करना चाहिए । यहाँ इस शास्त्र का तात्पर्य बता रहे हैं । पहिले तो शास्त्र की विशेषता ही समझ लीजिए । कितना विशिष्ट यह ग्रन्थ है?

शास्त्र में मोक्षतत्त्व की प्रतिपत्ति के कारण की विशेषता—इस ग्रन्थ में समस्त पुरुषार्थों में सार अथवा समस्त पुरुषार्थों का सारभूत जो मोक्षतत्त्व है उस मोक्षतत्त्व की प्रतिपत्ति का कारण है । इसमें मोक्षतत्त्व के स्वरूप का प्रकाश मिला है । इस ग्रंथ में समग्र वस्तुवों का स्वभाव दिखाया गया है । वस्तुवों का स्वभाव एकदम सीधा कैसे दिखाया जाय जब तक उस वस्तु का व्यवहारकथन से उसकी विशेषताएँ न बतायी जायें? अत: पदार्थ की विशेषताओं का प्रतिपादन भेद प्रभेद करके किया है ।

विशेषता के प्रकार—विशेषताएँ दो प्रकार की होती हैं—एक तिर्यक् विशेष, एक ऊर्द्ध विशेष । जैसे किसी चौकी की विशेषता जाननी है तो चौकी की विशेषता जानने की दो पद्धतियाँ हैं, एक तो विस्तार रूप में समझे यह इतनों लम्बी-चौड़ी है, इसमें ऐसी-ऐसी रचनाएँ हैं—एक तो यों फैलाव में दिख सकने वाली विशेषतावों का जानना और एक कल क्या था, आज क्या है, इस प्रकार कामभाव से इसकी अवस्थाओं का परिज्ञान करना । इस ही प्रकार समग्र वस्तुवों के जानने के दो ही तरीके हैं—एक किसी भी एक वस्तु में एक साथ फैलावरूप क्या-क्या विशेषताएँ हैं इसे समझना, इन विशेषताओं का नाम है गुण । प्रत्येक पदार्थ में एक साथ रहनेवाला विस्तार क्या है? जैसे आत्मा में ज्ञान, दर्शन, आनंद, शक्ति, सूक्ष्मत्व, अमूर्तत्व कहा जाय ये एक साथ ही अनेक हैं, इसलिए समझ में इसका तिर्यक् फैलाव बन जाता है । दूसरी विशेषता है ऊर्द्ध विशेषता । इस आत्मा का पूर्वकाल किस परिणति

में व्यतीत हो, इस समय किस प्रकार व्यतीत हो रहा, इन विशेषताओं का नाम है पर्याय । तो इन गुण और पर्याय तिर्यक् विशेष और ऊर्द्ध विशेष को समझाने के ढंग में बताये गए ५ अस्तिकाय और ६ द्रव्यों का जो स्वरूप है उस स्वरूप से फिर वस्तु के स्वभाव का दर्शन कराया गया है ।

अस्तिकाय व द्रव्य शब्द से तिर्यग्विशेष व ऊर्द्धवताविशेष का संकेत—अस्तिकाय व द्रव्य—इन दो शब्दों में ही देख लीजिए कि उन वस्तुवों का प्रतिनिधित्व आ गया है । अस्तिकाय शब्द तिर्यक् विशेष की ओर संकेत करता है प्रमुखता से और द्रव्य शब्द पर्यायों की ओर संकेत करता है प्रमुखता से, अस्तिकाय कहने से किसी परवस्तु का जितना फैलाव है, जितना प्रदेशों में विस्तार रहता है उतने प्रदेशों में दृष्टि गयी है तब यह तिर्यक् परिज्ञान हुआ । उस तिर्यक् परिज्ञान में गुणो का परिज्ञान है । द्रव्य किसे कहते हैं ? द्रव्य का भी अर्थ यही है कि जिसने पर्यायों को प्राप्त किया था, जो पर्यायों को प्राप्त कर रहा है, जो पर्यायों को प्राप्त करता रहेगा उसे द्रव्य कहते हैं । इस द्रव्य शब्द की विशेषता ने पर्याय की ओर दृष्टि दिलायी । यों गुणपर्यायों के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए इस ग्रन्थ में वस्तुस्वभाव को दिखाया गया है ।

ज्ञान में भेद से अभेद की ओर व अभेद से भेद की ओर ले जाने की पद्धति—कल्याणार्थी पुरुष पहिले भेद से अभेद की ओर आता है और फिर यह भी हो सकता है कि यह अभेद से भेद की ओर जाय । पर अन्त में पुरुष के लक्ष्य की पूर्ति इस मोक्षमार्ग के प्रसंग में जो उद्देश्य बनता है उसकी पूर्ति भेद से अभेद की ओर आने में होती है । संसार के जीव शुभ भावों से ही परिचित हैं । अभेदस्वरूप, एकत्वस्वरूप अद्वैतभाव इनसे परिचित नहीं हैं । तब इस भेददृष्टि वाले का क्या कर्तव्य है कि वह इस प्रकार का यथार्थ परिज्ञान करे कि भेद से उठकर ऊपर चलकर यह अभेदस्वरूप में जाय । अभेदस्वरूप में जाने के बाद पूर्व संस्कार के कारण किसी भी जीव में यह सामर्थ्य नहीं हुई कि यह प्रथम ही भेद से अभेद में पहुँच गया तो उस अभेद में ही रम जाय, अतएव उन्हें हजारों बार अभेद से भेद में जाना होता है, भेद से अभेद में जाना होता है यों हजारों बार परिवर्तन करने के पश्चात् जीव का कल्याण तब ही होता है जब भेद से अभेद में पहुँच कर स्थिर हो जाय तो पहिले गुणपर्यायों के कथन से भेद का निर्णय किया ।

भेद के यथार्थ निर्णय का विवेक—ये संसारी जीव भेद का भी तो सही निर्णय किए हुए नहीं हैं । भेद का सही निर्णय ही तो व्यवहार सम्यग्दर्शन, व्यवहार सम्यग्ज्ञान है । भेद से निर्णय यों हुआ कि यह वस्तु है, इतना प्रदेशवान है, इसमें अमुक-अमुक गुण हैं, इसकी इसही प्रकार की पर्यायें हैं । भेदज्ञान करने के बाद फिर समेट होता है । इन सब गुणपर्यायों का जो समूहरूप एकत्व है वह है पदार्थ । अच्छा, तब इसका स्वभाव क्या है? तो स्वभाव छिन्न-भिन्न नाना नहीं है, किन्तु वह एक रूप है । इस तरह भेद के द्वार से यह अभेद धाम में पहुँचा । वहाँ पहुँचने के बाद फिर अभेद से भेद की ओर भी चल देता है । यों फिर भेद से अभेद की ओर आता है । इस प्रकार के तत्त्व कौतूहली बनकर भव्य जीवों ने वस्तु के स्वभाव का दर्शन किया है, यह सब इन ही शास्त्रों से जाना गया है।

समस्त वर्णनों का तात्पर्य वीतरागभाव की उपादेयता—यह शास्त्र निश्चय और व्यवहाररूप मोक्षमार्ग का भली

प्रकार वर्णन करता है । इस मोक्षमार्ग की चूलिका में व्यवहारमोक्षमार्ग और निश्चय मोक्षमार्ग का विश्लेषण करते हुए व्याख्यान किया है । इस ग्रन्थ में बन्ध और मोक्ष के भेद पर भी प्रकाश डाला है । जो बंध और मोक्ष के आयतन हैं अर्थात् उस बंध विधि के भाव से चले तो बन्धन होता है और उस मोक्षविधि के भाव से चले तो मोक्षमार्ग मिलता है । यह सब भी, नौ पदार्थों का वर्णन करने वाले अधिकार में बंध और मोक्ष का भी स्पष्ट वर्णन किया है । सब कुछ वर्णन करने के अनन्तर बात यही मिलेगी कि इन शास्त्रों के हृदय में वीतरागता का ही स्थान है । साक्षात् मोक्ष का कारणभूत यह वीतराग भाव है ।

वीतरागभाव से समस्त सुलझेरा—उस वीतराग भाव में शास्त्र का समस्त हृदय विश्रांत हो गया है । शास्त्र में भी जितना कथन है उस समस्त कथन का हृदय भी वीतरागभाव है जिस भाव में सब कथन विश्रान्त है । बहुत-बहुत वर्णन करने के बाद अन्त में जब पूछा जाता है कि इसका सार तो बतावो, इसका तात्पर्य तो बतावो? तो उसका यही उत्तर है कि वीतरागता ही इस शास्त्र का तात्पर्य है । शास्त्र के अध्ययन का फल लेना हो तो अपने जीवन में योग्य ज्ञान बनाकर यही उद्यम करना चाहिए कि हम में वीतरागता का आधिक्य प्रकट हो ।यद्यपि बहुत-बहुत प्रकार के साधन ऐसे लगे हुए रहते हैं कि जो विभिन्न हैं और जिनका मुकाबला और निपटारा का सुल्झेरा करना भी कठिन होता है, फिर भी सम्यक्त्व के माहात्म्य से यथासमय सुलझेरा हो ही जाता है ।

राग का विषय परपदार्थ—भैया ! सच बात तो यही है कि इस जीव को जितने भी राग लगते हैं वे सब परपदार्थों में ही तो लगते हैं । निज पदार्थ में कहाँ राग है? कदाचित् कोई जीव निज पदार्थ में भी राग करे तो जब तक वह निज पदार्थ की पर जैसी शकल बनाये रहता है तब तक राग रहता है । जैसे मैं अपनी करुणा करूँ, अपना काम साधु, अपने आप में ही रूप बनाता है तो जिस समय यह रूप बनाता है उस समय इस जीव को जो सहज ज्ञायकस्वरूप है, अपने वह लक्ष्य में नहीं है और इस निज को अन्य-अन्यरूप में लक्ष्य में लिए है तब इसकी ओर राग है । शुद्ध परमार्थ निजस्वरूप ज्ञात हो तो वहाँ राग नहीं रहता, किन्तु रागरहित अवस्था होती है । समता और स्वास्थ्य भाव वहाँ प्रकट होता है ।

खुद की बेसुधी में बाह्यविडम्बना—बाह्यपदार्थों का समागम, ये कहीं मुझ में राग अथवा उपद्रव उत्पन्न नहीं कर रहे हैं, यह मैं ही खुद अपने स्वरूप की संभाल में न रहकर रागवश अन्य पदार्थों को अपने सुख का साधन समझकर हम उनमें राग किया करते हैं । सच पूछो तो जिस शरीर से हम आप राग रख रहे हैं यह शरीर क्या है? इन्द्रियों का समूह ही तो है । यह सारा शरीर जो कुछ दिख रहा है, जो कुछ भी छूने में आता है यह सब स्पर्शनइन्द्रिय ही तो है । यह ऊपर की त्वचा स्पर्शनइन्द्रिय है और यदि यह त्वचा अलग हो जाय और यह मांस का खण्ड ही ऊपर रहे तो क्या यह मांस खण्ड स्पर्शन ज्ञान का काम नहीं करता? वह भी स्पर्शन इन्द्रिय है । इस मांस को भी थोड़ा काटकर निकाल ले तो अन्दर जो कुछ है, क्या वहाँ स्पर्शन का बोध नहीं होता? क्या है यह शरीर? स्पर्शनइन्द्रिय का कितना बड़ा विस्तार है इस देह में? शेष चार इन्द्रियों का तो बहुत-सी छोटी जगह में स्थान है और इस स्थान में भी स्पर्शनइन्द्रिय तो बनी हुई ही है, उसके भीतर किस प्रकार की ये गुप्त अन्य इन्द्रियाँ पड़ी हुई हैं?

इन्द्रियों में ज्ञानानन्दस्वरूप की बाधकता—ये इन्द्रियाँ हमारे सुख की और ज्ञान की साधन बन रही हैं, पर वस्तुत: ये हमारे सुख और ज्ञान की बाधक हैं, हमारी सहज निधि का विघ्न करने वाली हैं, किन्तु ऐसे बन्धन की स्थिति में जो कुछ ज्ञान और सुख पाने के लिए निमित्तरूप सुविधा मिली है यह मोही जीव इसी कारण इन इन्द्रियों में आसक्त हो जाता है । इन इन्द्रियों को आचार्यदेव ने हतक शब्द से प्रयोग किया है । हतक एक अपशब्द है । हतक मायने हैं हत्यारा अथवा नाश का मिटा । ये हत्यारी इन्द्रियाँ नाश की मिटी, इन इन्द्रियों में इस मोहीजीव का अनुराग पहुँच रहा है और इस कारण हमारे साधनभूत बाह्य अर्थों में भी अनुराग पहुँचता हे । तब हमारा कर्तव्य यह है कि इन इन्द्रियों से भिन्न ज्ञायकस्वरूप निज अंतस्तत्त्व का अनुभव करें । यों भेदविज्ञान करके निज अभेद ज्ञान द्वारा इन समस्त संकटों को दूर करें और वीतरागता का आदर करें । इन समस्त शास्त्रों का तात्पर्य वीतराग भाव ही है । ऐसा जानकर वैराग्य की ओर अपना उद्यम होना चाहिए ।

वीतरागभाव की अनुगम्यमानता—मोक्षमार्ग का प्रधान साधनरूप यह वीतरागभाव व्यवहार और निश्चय के अविरोध पूर्वक ही जो अनुगम्यमान होता है, विज्ञात होता है, वर्तना में आता है वह वीतरागभाव इष्टसिद्धि के लिए होता है । इस मोक्षमार्गी जीव का इष्ट है मोक्ष की प्राप्ति । मोक्ष की प्राप्ति का कारण है वीतरागभाव । वीतरागभाव उनके ही प्रकट होता है जो निश्चय अथवा व्यवहारनय में किसी का एकान्त पक्ष नहीं रखते, और दोनों नयों का विरोध न करके जो परख में आता है, जो परिणति में आता है ऐसा वीतरागभाव मोक्षमार्ग का कारण है । अब इस व्यवहारनय का और निश्चयनय का अविरोध कह रहे हैं और किस ढंग से इस मार्ग में चलना चाहिए, इसका वर्णन कर रहे हैं ।

भिन्न साध्यसाधनभाव के प्रदर्शन की आवश्यकता—सब से प्रथम जो प्राथमिक जन हैं, जो इस कल्याणमार्ग में प्रवेश करने वाले हैं वे पुरुष व्यवहारनय के बल से भिन्न साध्यसाधन का आलम्बन लेकर सुखपूर्वक इस तीर्थ में प्रवेश कर सकते हैं । जिन जीवों को अनादिकाल से अब तक भेद की ही बुद्धि लग रही है, भेद में ही वासना बनी रही है और अनुकूल भेद में भी नहीं, किन्तु अनाप-सनाप जैसा चाहे भेद में जिनकी बुद्धि लग रही है ऐसे जनों को यदि प्रथम ही अद्वैत अखण्ड चैतन्यस्वभाव का उपदेश दे और उसके ही आलम्बन के लिए अनुरोध करें तो उनसें क्या बनेगा? जो अब तक पंचेन्द्रिय के विषयों की ओर रत रहे आये, इतना विपरीत भेद में बढ़ गये, अपने से अत्यन्त भिन्न देह विभाव आदि को अपनाते रहे, उतना अत्यंत अभेद वाले पदार्थों में जो जुड़ते रहे, ऐसे लोगों को प्रथम तो भिन्न साध्य और भिन्न साधन का उपदेश दिया जाता है ।

भिन्न साध्यसाधनभाव का समवलोकन—देखिये मुक्ति चाहिए हो तो जो मुक्त हुए हैं ऐसे देवों की श्रद्धा रक्खो । उस मुक्ति का उपाय जिन ग्रन्थों में बताया है उन ग्रन्थों में कोई शंका न करो । विनयपूर्वक उन ग्रन्थों का अध्ययन करो, और जो मुक्ति के मार्ग में लग रहे हैं ऐसे साधु संतों की सेवा करो । यों भिन्न साधनों का अवलम्बन कराया जाता है और हुआ भी सभी को ऐसा । जो पुरुष आज निश्चयनय की कथनी में अनुरञ्जित हैं अथवा निश्चयनय की ओर झुकाव जिनका आ गया है उन पुरुषों ने क्या जन्म लेने के बाद ही यही रुख एकदम पा लिया था? कैसी प्रवृत्ति, कैसा व्यवहार रहा, उससे यह स्पष्ट है कि इन प्राथमिक पुरुषों को सर्वप्रथम इस भिन्न साध्यसाधन का

आलम्बन लेना पड़ता है तब वे सुगमता से सुखपूर्वक तीर्थ में अवगाह लेते हैं अर्थात् इस धर्म को धारण करने के पात्र बनते हुए ।

व्यवहारावलम्बन—अब धर्मविधि की इस बात को स्पष्ट करते हैं । यह तत्त्व श्रद्धा करने योग्य है और यह तत्त्व श्रद्धा के योग्य नहीं है । यह श्रद्धान करने वाला है और यह श्रद्धान है, यह अश्रद्धान है, यह ज्ञेयपदार्थ है, यह ज्ञाता है, यह ज्ञान है, यह अज्ञान है, यह आचरण के योग्य नहीं है, यह आचरण किया गया है, यह कर्तव्य है, यह अकर्तव्य है, यह करने वाला है, यह किया जा रहा है आदिक विभावों का जब अवलोकन होता है तो उससे इसमें एक उत्साह जगता है । प्राथमिक पुरुष कब से मोक्षमार्ग का उत्साह प्राप्त करता है? जब से वह इस ज्ञानमार्ग में चला और भिन्न-भिन्न रूप से तत्त्व का निर्णय करने लगा तब से इसे मोक्षमार्ग में उत्साह बढ़ता है, यही हुआ ना भिन्न साध्यसाधनभाव, व्यवहारनय का आलम्बन । यह तो प्राथमिक पुरुष की प्रारम्भ की कहानी है, लेकिन क्या इतने तक ही वह फंसा रहे? यदि यह साथ ही रहता है तो उसे सफलता न मिलेगी तब धीरे-धीरे कह मोहमल्ल का उन्मूलन करता है ।

आत्मानुभूति और मोहमल्लमर्दन—भैया ! अपने ही अनुभव से ऐसा निर्णय करो कि जिस देह में यह मैं प्रतीति कर रहा हूँ, यही मैं हूँ, ऐसा मिथ्या श्रद्धान करने वाले पुरुष को जब कभी भी सम्यक्त्व प्राप्त करने का आरम्भ होगा यह मैं नहीं हू—इस देह से यों हटेगा तो सर्वप्रथम तो यह जानकारी आयगी ही कि इस शरीर का ध्यान ही न करके जो शुद्ध सहज आत्मतत्त्व है उस आत्मा में रति बन जाय, अनुभूति हो जाय । आत्मोन्नति का, मोहमर्दन का यह काम धीरे-धीरे होने का है । जैसे किसी मल्लों की लड़ाई में जहाँ मल्लयुद्ध हो रहा हो तो कोई भी मल्ल दूसरे को गिराकर उसे धीरे-धीरे उन्मूलन करता है । जैसे कुश्ती वाले लोग जानते ही हैं, इसी तरह इस ज्ञान का और इस मोह का आज यह कलह हुआ है अर्थात् मोह ज्ञान पर हामी जो बना हुआ था आज ज्ञान को सुध जगने लगी है, और यह ज्ञान मोहमल्ल को हटाना चाहता है तो वह ऐसी ही भेदभावना से हटाकर इस मोहमल्ल का उन्मूलन करता है । किसी कारण से और प्रमाद के अधीन होकर अपने आत्मा को शिथलित भी कर देता है । जैसे गृहस्थों में यह अवस्था गुजरती है, कभी धर्म की सुध हुई, कभी फिर ममता में रम जाता है, कभी खेद करते, धर्म के लिए उत्साह जगता, फिर अधिक देर तक धर्म नहीं टिक पाता है । उसी ममता में फिर पग जाते हैं । ऐसे ही प्राथमिक जनों में भी हो क्या रहा है कि मद और प्रमाद के अधीन हो जाते हैं । मद मायने अहंकार ।

गतियों में कषायों की मुख्यता का विश्लेषण—चारों गतियों के कषायों की पृथक्-पृथक् मुख्यता है । नरकगति में क्रोध कषाय प्रधान है, तिर्यञ्चगति में मान कषाय प्रधान है । तभी देखा होगा कि बिल्ली कैसा मायाचार से चूहे पर झपटती है और अन्य-अन्य भी पशु अपना-अपना योग्य मायाचार रखते हैं? हम आप नहीं समझ पाते उनकी बात । लेकिन प्रकृति ऐसी है तिर्यञ्चगति के जीवों की कि उनमें मायाचार की प्रधानता है । देवगति में लोभ कषाय की प्रधानता है और मनुष्यगति में मान कषाय की प्रधानता है । देख लो इस मान कषाय के पीछे अपना तन, मन, धन सर्वस्व होम सकते हैं । मनुष्यों में मान कषाय की प्रधानता है, यह बात आँखों दिख भी रही है लोकव्यवहार में । तो यह मनुष्य कभी मद के अधीन हो जाता है और कभी प्रमाद के अधीन हो जाता है, तब आत्मा का अधिकार

इसके शिथिल होने लगता है ।

ज्ञानी की प्रचण्ड दण्डनीति—आत्माधिकार जिसका शिथिल होने लगता है ऐसे आत्मा को न्यायपथ में लगाने के लिए प्रचंड दंडनीति का प्रयोग भी बताया गया है उसे वह करता है । खाना छोड़ दिया । आज भाव आया कि अमुक चीज खानी है तो क्यों आया ऐसा भाव? लो आज यह चीज ही छोड़ दिया । यह क्या है? आत्माधिकार जिसका शिथिल होने लगता है उसके लिए यह दंड है और जितने भी व्रत हैं, नियम हैं ये सब क्या हैं? ये सब दण्ड स्वरूप हैं, इतना ही तो फर्क है । अज्ञानी जन तो ऐसा समझकर कि मैं व्रती हूँ, मेरा यह करने का काम है ऐसा उत्साह रखकर किया करते हैं, किन्तु ज्ञानी जन ऐसा सोचते हैं कि मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ, उसे नहीं पा रहा हूँ अतएव उसमें विरोध डालने वाले विषयकषायों को हटाने के लिए मैं यह प्रयत्न कर रहा हूँ और इसे मैं एक दण्ड समझता हूँ । तो जब आत्माधिकार शिथिल होता है तब दंड नीति का यह जीव प्रयोग करता है । फिर बार-बार दोषों के अनुसार प्रायश्चित्त लेता है ।

स्वरूपच्युति के अपराध का प्रायश्चित्त—देखो भैया ! अपने आपको जिसने प्रायश्चित्त दिया है ऐसा इस ज्ञानी पुरुष में व्यवहारनय और निश्चयनय इन दोनों का कैसा अविरोध चल रहा है? दोष तो इस जीव के लगते रहते हैं और ज्ञानी पुरुष उन दोषों का दंड भी लेता रहता है । संयममार्गणा में प्रथम दो संयम कहे गए हैं—सामायिक और छेदोपस्थापना । छठे गुणस्थान में तो ये दोनों खूब समझ में आते हैं कि वहाँ समतापरिणाम भी करता है और बराबर विचलित भी होता जाता है । लोगों को देखकर उनको शिक्षा दीक्षा देकर किसी भी प्रकार जब फलित हो जाता है अपने उत्कृष्ट मन से तो छेदोपस्थापना कर लेता है । उनमें कोई दोष ही बन गया, अपने नियम के विरुद्ध कार्य भी बन गया तो उसकी संभाल करता है ।

छेदोपस्थापना का अन्तर्मर्म—देखो भैया ! छठे गुणस्थान में तो सर्वविदित है कि छेदोपस्थापना हो गई, किन्तु ७वे, ८वें और ९वें गुणस्थान तक जहाँ अनिवृत्तिकरण परिणाम हो गया, एकसा ही जहाँ सबका परिणाम रहता है वहाँ भी छेदोपस्थापना बताया है । इसका मतलब क्या है? इसका तात्पर्य यह है कि यह साधु रागद्वेष को त्यागकर समतापरिणाम में लगा है, शुद्ध ज्ञाताद्रष्टा रहे इस प्रयत्न में लगा है । इस प्रयत्न में लगने के मायने ही यह हैं कि लगते हुए के बीच-बीच कुछ-कुछ शिथिलता आती है और फिर उसको ज्यों का त्यों उपस्थित करता है । कोशिश में लगना इसका अर्थ क्या है? उसके साथ-साथ शिथिलता भी चलती रहती है और उस शिथिलता का परिहार भी चल रहा है उसे कहते हैं कि कोशिश में लगा है । शुद्ध ज्ञाताद्रष्टा रहना यह बहुत उच्च कार्य है ।

समता में लगने का पुरुषार्थ—पदार्थों के केवल जाननहार रहें, वहाँ इष्ट अनिष्ट की कल्पनाएँ न जगें, किसी भी प्रकार का सूक्ष्मरूप से भी सुहावना और असुहावना का भाव न बने, लो अभी कुछ श्रम सा हो रहा था, अब विश्राम सा मालुम पड़ने लगा । इतना भी भेद जहाँ न जगे ऐसी केवल जाननहार की स्थिति कितने उत्कृष्ट पुरुषार्थ की परिस्थिति है? इस काम को करते हुए अबुद्धिपूर्वक जो समझ में नहीं आता ऐसी उस समता की गली से कुछ-कुछ शिथिलताएँ होती हैं, त्रुटियाँ होती हैं तो पुन: फिर उस ही साम्यभाव में लगने का जो प्रवर्तन है वह है छेदोपस्थापना । यों कह लीजिए कि बराबर वह समता में लग रहा है तो समता में लगने का जो प्रतिपक्ष यत्न है वह छेदोपस्थापना

है, और जो समता में लगा रहे वह सामायिक है ।

आत्मसंस्कार का अधिरोपण—शिवमार्ग में चलते हुए साधु के शेष राग के कारण दोष लगते रहते हैं, उन दोषों का वह प्रायश्चित देता है और सदैव उस समतापरिणाम में ठहरने के लिए उद्यमी होता है । ऐसे इस आत्मा के हुआ क्या कि भिन्न विषयक श्रद्धान ज्ञान और आचरण के द्वारा इसने एक संस्कार प्राप्त किया । जैसे एक मोटे रूप में ही देखिये—हम आप लोग बचपन से ही किस-किस प्रकार से अपने संस्कारों को बनाते चले आये हैं । आज इतनी धर्मरुचि हुई है, भक्ति है, तन, मन, धन, वचन सब कुछ धर्म के लिए न्यौछावर कर सकते हैं, इस तरह की जो आज तैयारी है उस तैयारी से पहिले जो-जो संस्कार बने हैं, कब से बने हैं, किस प्रकार बने हैं उन पर दृष्टि डालें तो वे विभिन्न प्रकार की स्थितियों से बने हैं । ८-१० वर्ष की उम्र में किस प्रकार से संस्कार जमते थे, अब बड़ा होने पर किस प्रकार के संस्कार जमने लगे? कुछ ज्ञान विशेष जगने पर इस आगम के बल से किस प्रकार संस्कार अधिरोपित करने लगे ।इन सब भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों में इसने संस्कारों को ही दृढ़ किया है तो यह मोक्षमार्गी जीव भिन्न विषयक श्रद्धा याने भेदरूप सम्यग्दर्शन, व्यवहार सम्यग्दर्शन, व्यवहार सम्यग्ज्ञान और व्यवहार सम्यक्चारित्र से अपने संस्कार दृढ़ करता है ।

भिन्न साध्यसाधनभाव का उपयोग—अब जैसे धोबी मलिन वस्त्र को सोडा, खार, साबुन इत्यादि भिन्न साधनों के द्वारा स्वच्छ करता है ऐसे ही यह प्राथमिक मोक्षमार्गी जीव भिन्न साध्य साधनों का व्यवहारनय का आलम्बन करता है और उस भिन्न साध्यसाधनभाव के द्वारा गुणस्थानों पर चढ़ने की परिपाटी बनाता है, विशुद्ध होने का यत्न करता है । फिर उन ही मोक्ष-मार्ग के साधक जीवों के निश्चयनय की मुख्यता से फिर भेद स्वरूप परावलम्बन व्यवहारनय भिन्न साध्यसाधन का अभाव हो जाता है । जैसे धोबी सर्वप्रथम तो साबुन, सिला, पानी ऐसी भिन्न-भिन्न चीजों का आलम्बन लेकर वस्त्र को धीरे-धीरे उज्ज्वल करने का उद्यम करता है और इस भिन्न साध्यसाधन द्वारा इस वस्त्र में कुछ स्वच्छता आयी तो उसके प्रकट होने के बाद फिर उसकी ही स्वच्छता बढ़ाता है ऐसे ही उपायों से ऐसे ही व्यवहारनय का आलम्बन लेकर देव, शास्त्र, गुरु की भक्ति नाना प्रकार के तपश्चरण इन भिन्न साधनों के द्वारा आत्मा में एक विशुद्धि और स्वच्छता को प्रकट करता है और जब स्वच्छता जगने लगी तब फिर भी यह यहीं अपने आत्मा में ही अपने आपको साधन बनाकर अपने आपके ही उपयोग द्वारा अपने आप में ही उस साध्य का विकास करने का यत्न करता है ।

व्यवहार के अविरोधपूर्वक निश्चय में प्रगति—भैया ! आत्मशुद्धि में अन्तिम प्रयोग, तो उपान्तिम प्रयोग तो यह निश्चयनय का किया इसने, किन्तु प्रथम अवस्था में व्यवहारनय का आलम्बन लेकर यह जीव बढ़ा था तब यह उसी रजक की नाई धीरे-धीरे विशुद्धि को प्राप्त करके निश्चयनय का यह मोक्षमार्गी आलम्बन लेता है । जैसे उस रजक को वस्त्र में सफेदी लाने के लिए बाह्य साधनों का आलम्बन लेना पड़ता है ऐसे ही यह मोक्षमार्गी निश्चयनय का आलम्बन लेता है । इन भिन्न साध्य साधनों के उपाय से जाना किसको था? इस तत्त्व स्वरूप आत्मा को । अब उन समस्त क्रियाकाण्डों से छूटा भी है तो वहाँ विश्रान्ति लेता है और उस स्थिति में निस्तरंग परम चैतन्यस्वभावी इस भगवान आत्मा में विश्राम लेता है ।

दृष्टान्तपूर्वक निश्चय की व्यवहारपूर्वता का प्रतिपादन—जैसे आप लोग सभी जन जो मंदिर में ऊपर आते हैं, सीढ़ियों से चढ़कर आते हैं, सीढ़ियों पर चढ़ने का काम कितना पड़ा हुआ है यह क्षणभर में वह जान लेता है और उन सीढ़ियों पर चढ़ने का उद्यम करता है, पर उस सीढ़ी से आने पर उसे अन्तरंग में कुछ विश्राम मिलता है या नहीं? सब पर यह बात गुजरती है । पहिली सीढ़ी पर पैर रखते समय जो मनःस्थिति है और अन्तिम सीढ़ी पर आने पर जो मनःस्थिति है उसमें विश्राम का कितना अन्तर है? ऐसे ही व्यवहारनय के बल से भिन्न साध्यसाधन भाव द्वारा जो उद्यम किया उस परिस्थिति में और उस उद्यम के फल में जो एक अद्वैत अखण्ड है, शाश्वत चैतन्यस्वभाव की दृष्टि की पदवी में आया, आखिरी मंजिल की सीढ़ी के पास आया उस समय इसको एक परमविश्राम उत्पन्न होता है।

यथार्थ ज्ञान के बिना धर्म का अनाश्रय—यहाँ यह चर्चा चल रही है कि यह बहिरङ्ग भाव निश्चय और व्यवहारनय के अविरोधपूर्वक जो प्राप्त किया गया है, अनुगम्यमान है वह वीतराग भाव मोक्ष का मार्ग है । वीतराग भाव यथार्थज्ञान के बिना हो नहीं सकता । वीतरागता का और तात्पर्य ही क्या है? ज्ञान ज्ञानमात्र रह जाय, उसके साथ रागादि विकल्पों का कलंक नहीं हो, यही तो वीतरागभाव है । जिस पुरुष के यथार्थ ज्ञान नहीं हुआ अर्थात् वस्तु के स्वतंत्रस्वरूप का परिचय नहीं हुआ, अपने सहजज्ञानानन्दस्वरूप का भान नहीं हुआ वह अपने उपयोग को शुद्ध तत्त्व पर कैसे टिका सकता है? जब शुद्ध तत्त्व पर उपयोग नहीं टिक सकता तो यह उपयोग कभी धर्म के नाम पर घर परिवार को भी बाहर से छोड़ दे तो भी अन्तरङ्ग में उस स्थिति में हो रहे विकल्प की अपनायत न छोड़ सकने के कारण धर्म का पालन नहीं कर रहा है, वह तो अब भी अज्ञानी है । आजकल जो जहाँ कहीं भी त्यागवेशियों की विडम्बना हो रही है उसका कारण यही है कि ज्ञानस्वरूप का आत्मतत्त्व का परिचय तो हुआ नहीं और किसी विवशता के कारण या अपने धर्मात्मापन के विकल्प की अपनायत के कारण घर परिजन आदि छोड़ तो दिये हैं, किन्तु समता के साधनभूत अन्तस्तत्त्व की ओर झुकाव हो नहीं पाता तब विविध बाह्य दृष्टियों में फंसकर पूर्ववत् बेचैन ही रहता है, भले ही बेचैनी की पद्धति भिन्न हो गई, ऐसी बेचैनी में विडम्बना बनती ही है।

यथार्थ ज्ञान के बिना कषायों की अभिवृद्धि—यथार्थ ज्ञान के बिना वीतरागता आ ही नहीं सकती । यथार्थज्ञान से शून्य पुरुषों का व्यवहारधर्मपालन कषायों का कारण बन जाता है । धर्मपालन तो कषायों के अभाव के लिये होता है । कोई पुरुष धर्मक्रियायें करके अपने को सबसे महान् समझ ले और ऐसी महत्ता का आदर पर से न मिले तो क्रोध में जल भुन जायगा । तो लो यथार्थज्ञान बिना यह होती है हालत, देख लो । यथार्थ ज्ञानशून्य विद्यावों के अधिकारियों का भी यही हाल है । धर्मपालन, विद्यार्जन भी मद के लिये बन जाय, अन्य पुरुषों को तुच्छ दृष्टि से देखने का हेतु बन जाय तो वह धर्म कहाँ रहा? यथार्थ ज्ञानशून्य पुरुष धर्मपालन में मायाचार भी करेंगे । अकेले बैठे जाप दे रहे तो शिथिल मुद्रा में, और कोई दो-एक आदमी वहाँ से गुजरें तो अकड़ कर बैठ जायें । अकेले स्तवन पूजन कर रहे हैं जल्दी-जल्दी की भाषा में और कोई दो-एक आदमी वहाँ दर्शनार्थी आ जायें तो मधुर स्वर से गाने लगे । यह सब मायाचार है तो धर्मपालन कहाँ रहा? धनलाभ, विजय लाभ, संतानलाभ आदि के ख्याल से पूजा भक्ति यात्रा आदि किये जा रहे हों तो बतलाइये हृदय देखकर कि धर्मपालन कहाँ हुआ? वास्तविकता तो

यह है निरपेक्ष निजस्वभाव का परिचय न हुआ हो तो उपयोग अन्तस्तत्त्व में कैसे टिके? यथार्थज्ञान बिना वीतराग भाव नहीं हो सकता ।

यथार्थ ज्ञान—ज्ञानों में ज्ञान वही यथार्थ है जो ज्ञान ज्ञानस्वरूप का जानन रखे । जाननस्वरूप का जानन वही ज्ञान रख सकता है जो ज्ञान समग्र वस्तुओं के स्वतन्त्र स्वरूप का जानकार हो चुका हो । ये दिखने में आने वाले सब पदार्थ व समझ में आने वाले ये सब चेतन पुरुष व सभी पदार्थ अपने-अपने प्रदेशों में ही परिणमते हैं । किसी भी पदार्थ का गुण परिणमन, क्रिया, प्रभाव कुछ भी तो अन्य पदार्थ में नहीं जाता है । किसी अन्य से मेरे में क्या आ सकता है? न किसी अन्य पदार्थ से मेरा सुधार है, न किसी अन्य पदार्थ से मेरा बिगाड़ है । प्रत्येकपदार्थ अपने में अपनी परिणति से परिणमता रहता है, जिसका फल अस्तित्व का बना रहता है । इसके अतिरिक्त अन्य कुछ किसी पदार्थ से आशा रखना अज्ञान का प्रभाव है । यह तो स्थूल बात कही गई है । दिखने वाले पिण्डों में भी जो एक-एक परमाणु हैं वे भी प्रत्येक स्वतन्त्र पदार्थ हैं । वस्तुवों को देखते ही वहाँ स्वतन्त्रता का दर्शन हो जाय, ऐसी उपयोग की शुद्ध वृत्ति बने यह ज्ञान ही परमार्थत: ज्ञान है ।

क्लेश और क्लेश से छूटने का उपाय—इस संसार में समस्त स्थानों में समस्त दशाओं में सर्वकालों में, संसार के सब जीवों में क्लेश ही क्लेश नजर आता है । उस क्लेश से छुटकारा होने का नाम निर्वाण है । जीव की दो ही प्रकार की स्थितियाँ हैं । कोई जीव संसारी हैं, कोई जीव मुक्त हैं । संसारी सभी खेदमय हैं और मुक्त जीव सभी आनन्दमय हैं । जिनको निवृत्ति का आनन्द पाने की अभिलाषा है उनको केवल यही करना है—समस्त परपदार्थों के सम्बन्ध में मोहराग और द्वेष इनका त्याग करना, आनन्द पाने का ओर अन्य कुछ उपाय ही नहीं है सिवाय इसके । प्रथम मोह छोड़ पश्चात् रागद्वेष का त्याग करें तो निर्वाण मिलेगा । वह मोह रागद्वेष कैसे मिटे, इसका जो उपाय है उस ही का नाम धर्म है । धर्म का पालन करने से मोह रागद्वेष दूर होते हैं और आत्मा की सहज सत्य अवस्था प्रकट होती है ।

धर्मपालन की पद्धति—इस ही धर्म के प्रयत्न को कुछ लोग तो आत्मा के परिचय से शुरू और कुछ लोग बाहरी क्रियाकांडों से शुरू करते हैं । दो पद्धतियों से प्रयत्न करने वाले लोग धर्म का पालन करने वाले हैं । आचार्यदेव यह कह रहे हैं कि न तो केवल व्यावहारिक क्रियाकांडों से शान्ति का पथ मिलेगा और न केवल ऊपरी ढंग से आत्मा में निश्चय की बात कर-करके शान्ति का पथ मिलेगा । रही यह बात कि कोई श्रद्धापूर्वक, अपने आपके झुकाव सहित यदि आत्मा का परिचय पाये तो क्या उसे भी शान्तिपथ न मिलेगा? मिलेगा। किन्तु उसकी परिणति किस प्रकार बन जायगी अथवा बनना ही पड़ती है, इस पर भी तो दृष्टिपात करें । जो अपने शुद्ध अन्तस्तत्त्व का प्रेमी है, जैसे वह शुद्ध अन्तस्तत्त्व प्रकट हो उस प्रकार से उसके मन, वचन, काय की प्रवृत्ति होगी । संसारी जीवों में मन, वचन और काय तो लगा ही है । अज्ञानी मनुष्य हों उनके भी मन, वचन काय है और ज्ञानी हों उनके भी मन, वचन, काय है । अब जैसी भीतरी भूमि का है, जैसा प्रकाश है, जैसी योग्यता है उसके माफिक ही तो मन, वचन, काय चलेगा । तो ऐसे ज्ञानी संत पुरुष के मन, वचन, काय असंयम का प्रश्रय न देने वाले ढंग से चलता है तब निश्चय और व्यवहार दोनों की संगति वहाँ हो जाती है?

व्यवहारावलम्बियों की परिस्थिति—जो केवल व्यवहारनय का ही आलम्बन करके धर्मपालन की दिशा में बढ़ते हैं उनकी दृष्टि किस तरह होती है? वे भिन्न साध्यसाधन भाव को देखते हें और उस ही प्रकार से आचरण करते है, । बस केवल व्यवहारनय के आलम्बन करनेवाले का यह दोष है । भले ही उनके चित्त में यह बात रहती है कि मुझे निर्वाण पाना हैं और उस निर्वाण पाने के लिए हम तपश्चरण कर रहे हैं, भक्ति कर रहे हैं अथवा ज्ञान बढ़ा रहे हैं, लेकिन इस बोध में भी उनके चित्त में साध्य भिन्न है और साधन भिन्न है । उन्हें यह पता नहीं कि हमें निर्वाण पाना है तो निर्वाण हमारा ही स्वरूप है, ऐसा पता नहीं है, किन्तु जैसे व्यवहारी जन कहते हैं कि हमें शिखरजी जाना है, दिल्ली जाना है ऐसा कुछ भिन्न स्थान है जिस स्थान के प्राप्त होने पर सुख मिलता है । केवल व्यवहारी जनों को अपने हृदय में यह स्पष्ट नहीं है कि वह निर्वाण मेरा ही स्वरूप है, और निर्वाण क्या पाना अथवा आगे पाने को क्या करना, यह स्वयं निर्वाणस्वरूप है । निर्वाण अवस्था में जो प्रकट होता है वह कुछ नई बात नहीं होती है । जो स्वरूप है, जो स्वभाव है बस वही प्रकट हो गया, कोई नई बात नहीं बनायी जाती । इस प्रकार का अभिन्न साध्य का भी निर्णय नहीं है व्यवहारावलम्बियों के और अभिन्न साधन का भी निर्णय नहीं है । अगर निर्वाण पाना है तो उस देह को तपस्या में लगाओ । अधिक उपवास हो जाय, अधिक कायक्लेश हो जाय इसी विधि से तो निर्वाण पा लिया जायगा । भगवान का यही तो आदेश है कि तपश्चरण करो और मुक्ति पावो ।

विद्वत्ता होने पर भी अन्तर्ज्ञान के अभाव की संभावना—कोई पुरुष ज्ञान में विशेष बड़ा हो, किन्तु व्यवहारावलम्बी हो तो वह चर्चा में अभिन्न साध्यसाधन का वर्णन भी करेगा । जो लिखा है उसे पढ़ेगा नहीं क्या? उसे जब विवरण सहित समझाने को उद्यत होगा तो क्या उसको समझायेगा नहीं? फिर भी भिन्न साध्यसाधन भाव का उसे परिचय नहीं हो पाता है । जैसे जिसने जिस स्थान को नहीं देखा है, मान लो अमरीका या अन्य देश । यद्यपि नक्शा के आलम्बन से उसे ज्ञान है, वह दिशा बताता है, अनेक स्थल बताता है, लेकिन उतना स्पष्ट अवगम वह नहीं कर सकता है जितना कि वह कर सकता है जो देख आया है । यों ही समझिये कि जो व्यवहार का ही मात्र आलम्बन करता है वह भिन्न साध्य और भिन्न साधन को निरखने का ही एक खेद मचाये रहता है । इस संसारी जीवको, जो ज्ञानी भी है, किन्तु मिथ्यादृष्टि है उसको निरन्तर खेद बना रहता है । इन्द्रिय विषयों का सुख भोग रहा हो वहाँ पर भी लगातार निरन्तर खेद है और इन्द्रिय को न सुहाये ऐसे दुःख को भोगता हुआ भी वह निरन्तर खेद किए रहता है । अज्ञान अवस्था में निरंतर खेद रहता है । कोई साता का खेद है, कोई असाता का खेद है, कोई ऐसा खेद है कि खुद समझ में ही नहीं आ रहा और कल्पना में मौज मान रहा । कोईसा खेद है कि वह खेद भी समझ में आ जाता है ।

बहिर्दृष्टि में खेद की प्राकृतिकता—जिसने अपने आत्मा के अन्त:स्वरूप का स्पर्श नहीं किया उसकी दृष्टि बाह्यपदार्थों की ओर रहती है और चूंकि जानने वाला है यह और इसके उपयोग में जानने में आ रहे हैं परपदार्थ, तो भला बतलावो जिसकी एक टांग तो घर में हो और एक टांग कोई बाहर खींच रहा हो तो उसकी क्या हालत होती हे? उपयोग चूँकि स्वयं का स्वरूप है, इसलिए इसका एक पद तो यहाँ बना ही हुआ है, किन्तु उपयोग की क्रिया के समय में जो इसका उपयोग बड़ा खिंचा जा रहा है तो ऐसा बाह्य की ओर खिंचे जा रहे उपयोग वाले

को चैन कहाँ है, निरन्तर खेद रहता है । तो जो अपने आनन्दप्राप्ति के लिए भिन्न साध्य और भिन्न साधन को देखा करते हैं वे पुरुष निरन्तर खेद पाते रहते हैं ।

व्यवहारवलम्बी की सम्यग्दर्शन के लिये प्रवृत्ति—व्यवहारावलम्बियों की क्या स्थिति बनती है इसको देखिये—आगम में बताया है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र यह मोक्ष का मार्ग है तो इस व्यवहारावलम्बी को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के नाम पर इसमें प्रीति हुई है तब उसकी भी यह आकांक्षा रहती है कि हमारा रत्नत्रय निर्मल रहे और अपनी बुद्धि माफिक इस रत्नत्रय को निर्दोष करने के लिए बड़ा प्रयत्न भी करता है, बार-बार धर्मादिक तत्त्वों के श्रद्धान का अध्यवसाय बनाये रहता है । जैसे किसी बाई का यह नियम हो कि सूत्रजी भक्तामर जी सुनकर ही हम खाना खाये । उसके अर्थ पर उसके तत्त्व पर कभी भी दृष्टि न जगे तो वहाँ यह काम पूरा करना है, कोई मिला बांचने वाला उससे सुन लिया, पढ़ना नहीं जानती, सो चौथे क्लास के लड़के को ही बैठा लिया, उस लड़के ने कुछ बांच दिया । गलत-सलत बांच दिया तो भी सुन लिया, पर इस महिला को तो पूरा सन्तोष है कि हमने अपना नियम पाल लिया । किसी कार्यव्यासङ्ग से समय कम रह गया तो जाप भी दिया, सूत्रजी भी सुना । किसी को सूत्रजी पढ़ने को बैठा दिया तो, जाप भी वह महिला देती जा रही और सुनती भी जा रही । किसी भी प्रकार यह चित्त में आना चाहिए कि हमने अपने संयम को निर्दोष रूप में पाला । ७ तत्त्वों की कथनी सुनना, सप्त तत्त्वों के चिन्तन में अपना परिणाम लगाना और उससे ऐसा अनुभव करते रहना कि हम अपने मोक्षमार्ग को भली प्रकार निभाये रहें । जो करने योग्य काम है वह तो कर लिया, जब कि एक तत्त्वज्ञ पुरुष को मूल में यह श्रद्धा रहती है कि मेरे करने योग्य तो यह भी काम नहीं है । दर्शन, ज्ञान, चारित्र की जो प्रवृत्तियाँ हैं वे भी मेरे करने के काम नहीं हैं । तो फिर क्या हैं? कुछ न करें कुछ तरंग न उठे, कुच कल्पनाएँ न चलें, मन, वचन, काय ये तीनों विश्रांत हो जाये, ऐसी एक सहज स्थिति बने, वह है आत्मा की वृत्ति । तत्त्वज्ञानी को इस ओर प्रेम है तो व्यवहारावलम्बी को इन बाहरी दर्शन, ज्ञान, चारित्र की क्रियावों के पालने में प्रेम है । फल यह होता है कि आनन्द तो आनन्द की पद्धति से ही मिलेगा ना, किन्तु इन मुग्ध जीवों की दृष्टि है बाहर, इस कारण इन बाहरी प्रयत्नों में वे निरन्तर खेद-खिन्न रहते हैं । सम्यग्दर्शन के प्रसंग में, तत्त्व की चर्चा सुनने में, जानने में, चर्चा करने में अपना परिणाम लगाये रहते हैं जिससे हमारा सम्यग्दर्शन पुष्ट हो ।

व्यवहारावलम्बी की सम्यग्ज्ञान के लिये प्रवृत्ति—सम्यग्ज्ञान के प्रसंग में चूँकि यह भाव होता है कि हमारा सम्यग्ज्ञान भी सही बने तो बहुत शास्त्रों का अध्ययन करता है । न्यायशास्त्र, अध्यात्मशास्त्र, करणानुयोग, ऊँची-ऊँची कथनियों को लाँघ जाता है । हमारा ज्ञान बने ।जैसे एक कथानक है कि रावण के युद्ध के समय राम की ओर से जो वानर सेना थी उसने समुद्र को लांघ दिया । तो समुद्र को लांघने वाले बन्दरों से यदि यह पूछा जाता कि बतलावो तो वानरो ! इस समुद्र में कितने रत्न हैं और कैसे-कैसे रत्न पड़े हैं? तो उन वानरों को क्या पता? वे तो लांघ गए । उन्होंने भीतर घुसकर खोजा कुछ नहीं । ऐसे ही श्रुतज्ञान के नाम पर, सम्यग्ज्ञान के नाम पर अनेक प्रकार के शास्त्रों का व्याख्यान खूब रटा, खूब सुना, अध्ययन किया और कुछ भी प्रसंग आये पन्ने भी याद हैं, इस पेज पर यह लिखा है । इतना बड़ा ज्ञान पैदा कर के भी नाना प्रकार के विकल्पजालों में इसकी चैतन्य वृत्ति अब भी

कलुषित चलती रहती है ।

दृष्टिविकास—तत्व तो एक खोज की चीज है । जैसे किसी कार्ड में जंगल के वृक्ष बने हैं और इस ढंग से बने हैं कि जहाँ जगह खाली है उस खाली जगह में गधा, शेर, पक्षी ये दिखने लगते हैं, लेकिन ऐसी किसी ने दृष्टि न बनायी हो और ऐसा न परिचय कर पाया हो तो वह कार्ड को देखकर यही कहेगा कि इसमें तीन पेड़ खड़े हुए हैं, उन्हें शेर पक्षी वगैरह कुछ नहीं दिखा । किन्तु एक बार बता दिया जाय कि देखो यह है शेर, फिर तो कार्ड हाथ में लेकर देखे तो तुरन्त शेर दिखेगा, ऐसे ही जिसने अपने उस सहज चैतन्यप्रकाश का अनुभव नहीं किया वह तो समस्त योग प्रवृत्तियों में बाहरी-बाहरी बातें ही निरखेगा और जिसने अपने अन्तस्तत्व का परिचय पाया है वह प्रत्येक प्रसंगों में उस अन्तस्तत्व की बात सामने रखेगा ।

प्रत्यय के भेद से बहिरंग में भेद—यह व्यवहारावलम्बी पुरुष सम्यग्ज्ञान के नाम पर बहुत-बहुत ज्ञानार्जन भी करता है और सम्यक्चारित्र के नाम पर मुनियों को जो चारित्र तपस्या बतायी हैं उनमें प्रवृत्ति करके, अनेक क्रियायें कर के अपने को मोक्षमार्गी समझता है ।हमने निर्वाण का मार्ग पाया है, हम ठीक कर रहे हैं । अन्तरङ्ग में कैसा खेद चल रहा है वह खेद तो और खतरनाक है कि जिस खेद का पता भी न पड़े और खुद सुखरूप में सन्तोषरूप में समझ लिया जाय तो उस खेद का तो संसारपरिभ्रमन ही फल है । वह कभी किसी में रुचि करता है, कभी किसी में रुचि करता है । कैसे चलना, कैसे बैठना, कैसे खाना, कहीं कुछ गलती न हो जाय, देखिये ये सब बातें ज्ञानी पुरुष के भी चलती हैं और इन्हीं को अज्ञानी भी करता है, किन्तु ज्ञानी पुरुष अपने लक्ष्य से परिचित है तो उसका यह विशुद्ध शुभोपयोग कहलाता है और इस शुभोपयोग के प्रसाद से वह परम्परया मोक्ष प्राप्त कर लेता है । ज्ञानी का व्यवहारावलम्बन परम्परया मोक्ष को देने वाला है और अज्ञानी जीव का व्यवहारावलम्बन संसार में परिभ्रमण कराने वाला है । भले ही देव बन गया तो वहाँ पर भी क्लेश सहेगा और वहाँ से च्युत होकर मनुष्य पशु आदि बनकर वहाँ पर भी क्लेश सहेगा ।

अज्ञानी की विभिन्न रुचियों का कारण—जिसको अपने आत्मस्वरूप का परिचय नहीं है वह बाहर में ही तो रुचि करेगा । बाहर में हैं अनेक पदार्थ, अनेक तत्व, सो कभी किसी की रुचि कभी किसी की रुचि, यों उसका रुचि भेद चलता रहेगा । अज्ञानी जीव ने अपना प्रोग्राम बनाया है बाहरी क्रियाकलापों का और ज्ञानी जीव ने प्रोग्राम बनाया है मूल में अपने शुद्ध अन्तस्तत्त्व में झुकने का । तब ज्ञानी की रुचि एक प्रकार की ही रहेगी और अज्ञानी की रुचि अन्तरङ्ग से अनेक प्रकार की चलेगी । अब सुबह हुआ है, भगवान की पूजा भक्ति करना है, अब आहार का समय हुआ है, शुद्ध विधि से आहार लेना है । अब सामायिक का समय है । सामायिक में जो बताया है चारों दिशाओं का वन्दन स्तोत्र पाठ का आचरण उनमें रुचि जगे । अपने दिन रात में जो-जो भी प्रोग्राम हैं व्यवहारधर्म की भिन्न-भिन्न रुचि जगती रहती है । अपने निजस्वरूप में लीन न होने का यह फल मिला ।

ज्ञानी की अभिन्न रुचि का कारण—जैसे किसी के घर इष्ट का वियोग हो जाय जो बहुत अभीष्ट था तो उसकी दृष्टि केवल उस इष्ट की ओर ही है । भोजन करे तो भोजन ठीक किया, कहीं कान में उसने ग्रास नहीं रखा, मुख में ही रखकर खाया । जैसे और लोग चबाते हैं वैसे ही चबाया लेकिन उसकी रुचि और दृष्टि तो उस इष्ट पुरुष

में है । भोजन में तो है ही नहीं ।उसे कहीं घूमने ले जाइए, घूमता है बाग में और-और भी वचनव्यवहार करता है किन्तु रुचि और दृष्टि तो उस इष्ट की ओर है । ऐसे ही समझिये कि इस ज्ञानी जीव को अपने इष्ट का परिचय हुआ है, इसका इष्ट है सहज ज्ञानस्वभाव, चैतन्यस्वभाव, शुद्धस्वरूप । और साथ ही उसे यह भी समझ में आया है कि मेरी ही चीज और मुझ से अलग सी बनी हुई है, प्रकट नहीं हो रही है, इसका वियोग है तो ऐसा वह ज्ञानी पुरुष इस व्यवहारधर्म को करता हुआ भी क्योंकि जिसे इस इष्ट का परिचय हुआ है उसकी प्रवृत्ति पापरूप नहीं हो सकती । उसका मन, वचन, काय गंदा नहीं हो सकता । सो व्यवहारधर्म में लग रहा है फिर भी रुचि है चैतन्यस्वरूप की ओर । अन्तस्तत्व की रुचि जिसने नहीं पायी है वह केवल व्यवहार का ही आलम्बन करता है और कभी वह किसी में रुचि रखता है, कभी कुछ विकल्प बनाता है, कभी कुछ आचरण करता है । यह उनकी स्थिति है दर्शन ज्ञान और चारित्र के पालने के प्रसंग में जब कि ज्ञानी जीव की रुचि एक स्वभाव की ही है ।

एकत्व की रुचि में कर्तव्यपरायणता—ज्ञानी जीव का विकल्प एक स्वभावज्ञान के लिए ही है । ज्ञानी जीव का आचरण एक स्वभावविकास के लिए ही है । ज्ञानी जीव के दर्शन, ज्ञान और चारित्र का प्रयोग केवल एक के लिए हो रहा है और अज्ञानी जीव का श्रद्धान ज्ञान और आचरण का प्रयोग भिन्न-भिन्न जुदे-जुदे विषयों पर चल रहा है । इससे भिन्न साध्य और साधन समझने वाले व्यबहारावलम्बी पुरुष को निरन्तर खेद रहता है वह निर्वाण नहीं पा सकता है । हम आप इस कथन से यह शिक्षा लें, एक ही निर्णय बनायें कि शान्ति का उपाय अपने सहज ज्ञानस्वभाव की रुचि करना है, इसमें ही मग्न होना, यह ही शान्ति का उपाय है ।इसके सिवाय अन्य कोई भी प्रयत्न शान्ति का उपाय नहीं है ।

व्यवहारावलम्बन में दर्शनाचार का प्रवर्तन—जो केवल व्यवहारावलम्बी हैं उन्हें यह विदित हुआ है कि संसार के संकटों से दूर होने के लिए मोक्ष ही एक अद्वितीय स्थान है और उस मोक्ष में पहुंचने के लिए ५ प्रकार के आचरण करने होते है—दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार । अत: दर्शनाचार का आचरण करने के लिए वह प्रशम सम्वेग अनुकम्पा और आस्तिक्य गुणों को धारण करते हैं, कभी समता रखते हैं, किसी घटनाओं में किसी पक्ष में न जाने की एक प्रवृत्ति बनाते है । कभी वैराग्य दर्शक प्रवृत्ति को करते हैं । सबसे अलग रहना, किसी से राग न बढ़ाना, यों वह सम्वेग गुण को बढ़ाते हैं, कभी अनुकम्पा का भाव लाते हैं । दु:खी जीवों को देखकर दया की प्रवृत्ति करते हैं, कभी आस्तिक्य का बोझ ढोते हैं । देव, शास्त्र, गुरु हैं, ७ तत्व हैं, धर्म के पर्व हैं, धर्म की क्रियायें हैं इन सबका जैसा आस्तिक्य बने उस प्रकार प्रवृत्ति करते हैं ।

व्यवहारावलम्बन में सम्यग्दर्शन की दोषनिवृत्ति का यत्न—केवल व्यवहारावलम्बी सम्यग्दर्शन के जो दोष हैं उन दोषों के टालने का यत्न रखते हैं । जिनेन्द्र भगवान के वचनों में शंका न करना इस ख्याल को रखते हुए जो आगम में बातें आयी हैं, शास्त्रों में जो कथन निकलता है उस पर श्रद्धान रखते हैं । उसके खिलाफ कुछ बात सुनना नहीं चाहते हैं । चाहे कुछ तत्त्व के विरुद्ध है या अविरुद्ध, इस ओर का कुछ निर्णय नहीं लिया । शास्त्र में जो लिखा है वह ठीक है, जो शास्त्र में नहीं लिखा है वह ठीक नहीं है । यों शंका दोषों से भी बचने का वे यत्न रखते हैं, विषय भोगों की चाह नहीं रखते, नीरस भी भोजन करते हैं, किसी भी इन्द्रिय के विषयों में प्रेम नहीं रखते । गुणी

जनों की सेवा में, पूज्य पुरुषों की सेवा में निरंतर सावधान भी रहते हैं । उनकी सेवा करते हुए ग्लानि नहीं करते । अमूढ़ दृष्टिपना होने के लिए भी अपनी कमर बराबर कसे रहते हैं । कोई बात ऐसी न बन जाय, कहीं कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु को हाथ न जुड़ जायें, यह मस्तक देव, शास्त्र, गुरु के चरणों में ही लगे ऐसा सावधान भी रहते हैं । दूसरों के दोष को ढांकना, गुणियों के गुणों को प्रकट करना, धर्म से च्युत होने वाले को फिर से धर्म में स्थिर करना, धर्मात्माओं से वात्सल्य रखना और अपने आचरणों से धर्म की प्रभावना करना—इन सब बातों में बारम्बार उत्साह भी बढ़ाते रहते हैं । ये सब बातें भली हैं, लेकिन अन्तस्तत्त्व के परिचय बिना शान्तिलाभ नहीं होता है ।

मौलिक तत्त्व के अपरिचय में वृष्टि का बहिर्भ्रमण—आत्मा का शुद्धस्वरूप क्या है और इसकी शुद्ध क्रिया क्या है और सहजवृत्ति कैसी है? इसका स्पर्श नहीं हुआ तब दृष्टि केवल इस सम्यग्दर्शन के आचरण के प्रसंग में बाह्य बनी रहा करती है । यों केवल व्यवहार का आलम्बन रखने वाले सम्यग्दर्शन के आचरण में बहुत-बहुत यत्न श्रम रखते हैं, फिर भी एक मोक्ष-मार्ग का मौलिक नुक्सा न मिल पाने से वे बाहर ही बाहर डोलते रहते हैं । इस लोक में सर्वोत्कृष्ट अबाध, हितकर तत्व क्या है, इसकी पहिचान हुए बिना हम कभी विश्राम नहीं पा सकते ।हम अपने आपके स्वरूप से विमुख होकर कहीं भी बाहर किसी प्रकार लगें, किन्तु वहाँ लगने का विषय परपदार्थ होने से वह स्थानपर जम नहीं सकता ।

व्यवहारज्ञानाचार में कालिक स्वाध्याय का आचरण—केवल व्यवहारावलम्बी पुरुष ज्ञानाचार में भी बड़ी सावधानी सहित प्रवृत्ति भी रखते हैं । देखो स्वाध्याय के समय में ही स्वाध्याय करना ऐसा ही वे यत्न रखते हैं । जिन कालों का निषेध किया गया है—सामायिक के काल में स्वाध्याय न करना, कोई नगर में बड़ा उपद्रव हो रहा हो उस काल में स्वाध्याय न करना, चन्द्रग्रहण सूर्यग्रहण के समय जो लोगों में एक क्षोभ मची हुई सी वृत्ति रहती है उस काल में स्वाध्यान न करना, जब अपने संग से कोई इष्ट गुरु पुरुष जा रहा हो, विहार कर रहा हो उस काल में स्वाध्याय न करना, अपने संघ के निकट कोई महापुरुष गुरु आ रहे हों उस काल में स्वाध्याय न करना । बहुत-बहुत स्वाध्याय के योग्य कालों की निगरानी है और योग्य कालों में ही स्वाध्याय करते हैं । बात ठीक है सो प्रवृत्ति सहज बन जाना चाहिए । जैसे मान लो नगर में तो कोलाहल मचा है किसी उपद्रव के कारण और यह सिद्धान्त ग्रन्थों को लेकर बैठ गये हैं तो इसे लोग एक कठोर दिल वाला बतावेंगे, और किसी गुरुजनों का आना अथवा जाना हो रहा हो और यह धर्म के नाम पर एक कोने में बैठकर सिद्धान्त ग्रंथ पढ़ने लगे तो इस प्रवृत्ति को तो लोग न जाने क्या कहेंगे? ये ज्ञानाचार की बातें होनी तो चाहिएँ, पर ये बातें व्यवहारावलम्बी के सहज नहीं बनती हैं, ख्याल कर-करके बनती हैं ।

व्यवहारज्ञानाचार के अन्य अङ्गों का पालन—ज्ञानाचार में बताया है कि बहुत-बहुत प्रकार से अपनी विनयप्रवृत्ति रखें, विनय बिना धर्म नहीं होता । जैसे लोक के अनेक काम घमंड कर के भी किए जा सकते हैं, क्या आत्मानुभव का काम, प्रभुभक्ति का काम घमंड कर के किया जा सकता है? यह भक्ति जल, यह आत्मानुभवामृत नम्र मार्ग पाये तो ढल सकता है । इस ज्ञानसमुद्र में तो नम्रता और विनय की ज्ञानाचार में प्रवृत्ति बतायी है, इस अंग को भी बहुत अच्छी तरह से निभा रहे हैं । केवल व्यवहारावलम्बी साधु कठिन-कठिन उपधानों को भी कर रहे हैं ।

ज्ञानाचार की सेवा में ऐसा उपधान ठान लिया जाता है कि जब तक इस ग्रन्थ का स्वाध्याय न कर लिया जाय तब तक अमुक आहार आदि का त्याग रहेगा या सिद्धान्त कार्य के पूर्ण हो चुकने पर कुछ उपधान, विशिष्ट संयम ग्रहण किया जाता है । उसमें भी इसकी प्रवृत्ति सही चल रही है । अपने ज्ञानी जनों का बहुत-बहुत मान भी करता है । ज्ञानाचार में बताया है कि अपने गुरु का नाम न छिपाना सो इस ज्ञानाचार के अंग की पूर्ति के लिए समय-समय पर गुरु नाम को भी प्रकाशित करते रहते हैं । यह भी सोचकर कि मैं बहुत समय तक गुरु नाम न बताऊँ तो ज्ञानाचार में दोष लगेगा । इसलिए जरूरत भी न हो बताने की तो भी ख्याल कर-करके गुरु नाम को भी प्रकाशित करते हैं । शब्द शुद्ध पढ़ना, अर्थ शुद्ध समझना इन ज्ञानाचार के अंगों में भी निरन्तर सावधान रहते हैं । ये बातें ज्ञानाचार के अंग हैं, इन्हें करना चाहिए । किन्तु व्यवहारावलम्बी पुरुष को अपने उपयोग को टिकाने का निज में स्थान नहीं मिला है और धर्म की उसे आकांक्षा है तब इन बाह्य अंगों में प्रवृत्ति बनाये रहता है ।

स्वविधि से ही शान्तिलाभ की सुगमता—जैसे कोई छोटी गोली का एक खेल आता है ना, उसको हिलाते रहें, एक निशान है कहीं बीच में, जितनी बड़ी गोली है उतना ही बड़ा छिद्र है । ढुलकते-डुलकते गोली उस छिद्र में पहुंच जाय ऐसा कोई प्लास्टिक का खेल है । बहुत-बहुत हिलाते हैं, पर वह गोली कहीं की कहीं चली जाती है । यत्र-तत्र भ्रमण कर रही है ।उसमें बड़ा बल लगाया, बहुत-बहुत हिलाया, उससे कुछ सिद्धि नहीं होती । गोली यदि आसानी से कभी ठीक विधि बैठ जाय तो धीरे से ही वह अपनी गल्ल में प्रवेश करती है । ऐसे ही यह उपयोग अपने आपके स्वरूप में प्रवेश करता है । इसके लिए बड़े श्रम और बड़े उद्योग भरे प्रयत्न क्रियाकांड ये भी उस कार्य में, समर्थ नहीं हो पाते हैं । यह उपयोग जब कभी ठीक विधि बन जाय शान्ति की योग की, यहाँ श्रम की भी आवश्यकता नहीं, किन्तु श्रम दूर करके योग दूर करके, कषाय दूर करके, जब कभी विधि बने तो धीरे से शान्तिपूर्वक यह उपयोग अपने स्वरूप में क्षण एक को प्रवेश कर लेता है । ऐसी शान्त वृत्ति की विधि जिसने नहीं पायी वह धर्म के अंग के लिए ऐसे बड़े-बड़े यत्न करता है, तब भी मोक्ष में जिस प्रकार आनन्द है उस आनन्द की जाति का आनन्द यहाँ नहीं पा सकता है । भैया ! आत्मा ज्ञानस्वरूप है । इस ज्ञानस्वरूप आत्मा का जो भी यत्न होगा वह यत्न यदि ज्ञानमय होगा तो ज्ञानस्वरूप से मिल सकता है, मिलता रहेगा, और यदि बाह्यदृष्टि करके अज्ञानमय यत्न होगा तो अन्तस्तत्व का मिलन नहीं हो सकता है ।

व्यवहारचारित्राचार में व्रत समिति का पालन—केवल व्यवहारावलम्बी पुरुष चारित्र आचरण करने के लिए बहुत सावधान बने रहते हैं । चारित्र के अंग १३ हैं । ५ महाव्रत, ५ समिति और तीन गुप्ति--इन १३ अंगों में ये व्यवहारावलम्बी पुरुष बड़ी निष्ठा रखते हुए प्रवृत्ति करते हैं । हिंसा का त्याग, झूठ का त्याग, कहीं कुछ झूठ न बोला जाय, कभी किसी जीव की हिंसा न हो सके, कदाचित् देख-भालकर चलने पर भी किसी जीव की हिंसा हुई हो ऐसा ख्याल आ जाय या मालूम पड़े तो वे उसका बड़ा प्रायश्चित लेकर अपने को शान्त बनाना चाहते हैं । चोरी का त्याग, कुशील का त्याग, परिग्रह का त्याग । इन ५ पापों से बहुत-बहुत बचकर रहना, इस व्रत को रक्षा के लिए जो बातें बतायी गई हैं उनका पालन करना इससे बहुत सावधानी रहती है । ५ प्रकार की समिति ईर्यासमिति, भाषासमिति, देखभाल कर चलना, हितमित प्रिय वचन बोलना एषणासमिति आहारचर्या निर्दोष विधि

से हो, गृहस्थों की एक-एक वृत्ति बड़े निर्दोष ढंग से देख-भालकर आहार लेना, सामान को देख-भालकर धरना उठाना, पिच्छिका से कमण्डल पोंछकर उसे साफ स्थानपर धरना, बड़ी सावधानी से आदान-निक्षेपण सहित चीजों का धरना उठाना, प्रतिष्ठाना समिति में भी बड़ी सावधानी है । कभी खकार थूक, नासिका से मल आ जाय तो पहिले जमीन को पिछी से शुद्ध करना या देखभाल लेना तब मल डालना, ऐसे ही हर दशाओं में बड़ी सावधानी रहा करती है ।

व्यवहारचारित्राचार में गुप्तियों का पालन—गुप्तियों के पालन करने का ये व्यवहारावलम्बी पुरुष साधुजन बड़ा यत्न रखते हैं । मन में कोई दूसरी बात सोचने में न आये, मौन रहें, चित्त में भी शब्दजाल न उठने पायें, शरीर रंच भी हिले डुले नहीं, बोलें नहीं, लक्कड़ की तरह ज्यों का त्यों पड़े रहें, बैठे रहे—यों कायगुप्ति में भी बड़े सावधान हैं । ऐसे १३ प्रकार के चारित्र के अंगों का सावधानी से पालन करते रहते हैं । यदि वे केवल व्यवहारावलम्बी साधु हैं अर्थात् उन्हें अपने स्वरूप का परिचय नहीं है, स्वरूप में विश्रांति पाने की विधि नहीं आती है, आपके इस निराले अमूर्त चैतन्यस्वरूप में वे एकत्व को प्राप्त नहीं कर पाते, निराकुल स्थिति का अनुभवन नहीं कर पाते तो यों बाह्य में बहुत-बहुत सावधानी रखने पर भी वे बाह्य में डोलते ही तो रहते हैं । बात इतनी ही तो अन्तर में है कि अशुभोपयोगी पुरुष अशुभ विषयों में डोलते हैं, किन्तु ये साधुजन केवल व्यवहारावलम्बी संत एक शुभ विषयों में डोल रहे हैं, लेकिन बाहर में किसी भी जगह डोला जाय अंतस्तत्व से तो वह अत्यन्त वंचित है ना, तो यों केवल व्यवहारावलम्बी पुरुष चारित्राचार में भी बड़ी प्रवृत्ति रखते हैं, फिर भी मोक्षमार्ग का लाभ नहीं पा रहे हैं ।

व्यवहारतपाचार का अवलम्बन—तपाचार के नाम पर चूँकि तपाचार से मुक्ति मिलती है इसलिए इसमें बहुत विशेषरूप से उद्यमी रहना चाहिए । इस भावना से अनशन-उपवास करना, भूख से कम खाना, व्रतपरिसंख्यान-चर्या के लिए उठते हुए अनेक प्रकार के अटपट आखड़ी लिए रहना जिससे अपने कर्मो का परीक्षण भी होता रहे कि अब कैसे-कैसे पापकर्म मेरे हें या कम अधिक हैं, अथवा भोजन करने के लिए विशेष इच्छा नहीं रखते हैं, इस कारण अटपट आखड़ी ले लेते हैं । मिल जाय तो मिले नहीं तो नहीं । यों व्रत परिसंख्यान तप से निपटते हैं, रसों का परित्याग करते हैं । एकान्त स्थान में सोये, बैठे, उठें, गर्मी में पर्वतों पर तपस्या करें, सर्दियों में नदी के किनारे तपस्या करें, बरसात में पेड़ों के नीचे तपस्या करें, औरभी अनेक प्रकार के कायक्लेश करते हैं । इन तपश्चरणों को करते हैं और इनकी वृद्धि में उत्साह भी रखते हैं । ये सब काम करने के हैं, किया जाना चाहिए, परन्तु केवल व्यवहारावलम्बी पुरुषों को अपने उस चैतन्यस्वरूप का अनुभव नहीं होता जिसमें तपा जाना चाहिए । अपने उपयोग को उस शुद्ध ज्योतिस्वरूप में रमाना चाहिए, इस तपस्या की विधि नहीं विदित हुई, अनुभूति नहीं हुई, अतएव इन बाह्य तपश्चरणों में बहुत-बहुत यत्न रखकर भी ये साधु पुरुष अपने आप में शान्तिलाभ नहीं ले पाते हैं । इसी प्रकार अन्तरङ्ग तपश्चरण प्रायश्चित करना, विनय करना, साधुजनों की सेवा करना, स्वाध्याय करना, ध्यान करना, इनमें भी अपने मन को लगाया करते हैं, अंकुश की तरह संयमन यह मन यहाँ से हटे नहीं बड़ा उद्यम रखते हैं । इतने विविध तपश्चरण करने पर भी एक अपने अन्तरङ्ग का नुक्ता परिचय में न आये तो ये शान्तिलाभ के पात्र नहीं हो पाते ।

व्यवहारावलम्बन में वीर्याचार का आचरण—पंच आचारों में अन्तिम आचार है वीर्याचार । सर्व प्रकार के आचरणों में अपनी शक्ति न छुपाना, अपनी पूर्ण शक्ति के साथ उन व्रत और तपश्चरणों में लगना इसका नाम है वीर्याचार । ये साधुजन अपनी शक्ति नहीं छिपाते हैं । और उन समस्त आचरणों में अपनी पूरी शक्ति के साथ व्यापार रखते हैं । यों वे वीर्याचार का भी निष्कपट व्यापार करते हैं, किन्तु केवल व्यवहार का आलम्बन जिनके है वे कर्मचेतनाप्रधानी हैं । धर्म करो, धर्म करो, धर्म करना चाहिए, धर्म करने का बहुत बड़ा उत्साह जगे । करना क्या? धर्म किया जाता है कि हुआ करता है? इस नुक्ते का परिचय नहीं है । वे क्रिया के करने में अपने उपयोग को फंसाये रहते हैं ।

व्यवहारपालन करते हुए भी परमार्थपरिचय से शान्तिपथ गमन—यद्यपि इन क्रियाकाण्डों का एक लाभ तो यह है कि इससे अशुभ कर्मों की प्रवृत्ति बहुत दूर चली गई है, अशुभ कर्मों की प्रवृत्ति का निवारण हो गया । लौकिक जनों की नाईं विषय कषायों में ये नहीं लग रहे, शुभ कर्मों की प्रवृत्ति नहीं बन रही हे, किन्तु जिन्हें उस ज्ञानतत्त्व की तो जरा भी सम्भावना नहीं हो रही है जो ज्ञानचेतना समस्त क्रिया समूहों के आडम्बर से परे है, दर्शन, ज्ञान, चारित्र की एकता की परिणतिरूप है, जो केवल ज्ञान-ज्ञान को ही चेते, अन्त: ही कुछ किया जाने को पड़ा है इसका समाधान उनके नहीं हो पा रहा है, सो बहुत पुण्य मिला ना उन्हें । उस पुण्य के भार से उनका चित्त मन्द हो गया है, अलसिया गया है । मोक्षमार्ग जैसे मिलता है उस विधि से चित्त को ज्ञान को न प्रवर्तानि का नाम प्रमाद है, आलस्य है । उस प्रमाद से उनका चित्त मथरित हो गया है, सो उस पुण्य के फल में सुरलोक मिल जायगा, देवगति प्राप्त हो जायगी, कोई बड़ा धनिक राजपुरुष हो जायगा, किन्तु वहाँ रहकर भी क्लेश को पा-पाकर उस परम्परा में वह अपने संसारसागर में ही भ्रमण करेगा, संसार ही बढ़ायेगा । इस प्रकरण से हमें यह शिक्षा लेनी हे कि हम भी अपन पद में पद के योग्य व्यवहार धर्म को करते हुए भी कुछ अन्त चिन्तन करते रहें, यह मैं क्या हूँ और कैसा यह सहज रहा करता है, इसका चिन्तन और अभ्यास करना है । इस अंतस्तत्त्व के परिचय से हमें शान्ति का मार्ग मिलेगा।

कर्मकाण्डप्रधानियों के चरणकरण के सार की अनभिज्ञता—जो पुरुष व्यावहारिक सत् आचरण के करने में ही सावधान रहा करते हैं, आचरण के करने को ही जिन्होंने प्रधान कर्तव्य मान लिया है वे पुरुष चूंकि स्वसमय और परमार्थ के स्वरूप के न जानने के कारण निज में अन्तरंग कुछ व्यापार नहीं रखते हैं, अपने आत्मा के स्वरूप की सुध नहीं लेते हैं । अत: संसारसागर में भ्रमण करते हैं । वे पुरुष संसारसागर में क्यों भ्रमण करते हैं? इसका कारण यह है कि वे इस बात को नहीं जानते हैं कि समस्त आचरणों के करने का सार है आत्मानुभव । निश्चय शुद्ध जो वृत्ति है केवल ज्ञाताद्रष्टा रहना, निज ज्ञायकस्वभाव का अनुभव कर के परम आनन्दरस में तृप्त रहना, यही है आचरण के करने का सार । तो व्रत, तप, समिति आदि आचरणों का जो सार है, लक्ष्य है, उस शुद्ध स्वरूप को न जानने के कारण इतना बड़ा व्रत तपश्चरण करके भी वे संसारसागर में भ्रमण करते हैं ।

केवल निश्चयावलम्बी की परिस्थिति—जिस प्रकार व्यवहार का आलम्बन करने वाले निश्चय तत्त्व से विमुख रहकर मोक्षमार्ग से भ्रष्ट रहते हैं इस ही प्रकार केवल निश्चयनय का आलम्बन रखने वाले व्यवहार आचरण से तो छूटे हुए रहते ही हैं और निश्चय मर्म की बात से भी अनभिज्ञ हैं, सो वे भी मोक्षमार्ग से भ्रष्ट रहा करते हैं ।

केवल निश्चयनय का ही उन्होंने आलम्बन लिया है । आलम्बन क्या लिया है केवल शुद्धता के नाम पर बात, गप्प, बकवाद करते हें । यदि कोई निश्चयनय का वास्तविक मायने में आलम्बन ले तो जब तक उसकी निम्न दशा है अर्थात् वह वीतराग नहीं हुआ है, विकल्प चलते हैं तब तक उसकी प्रवृत्ति व्रत संयम के पालन में ही तो रहेगी, असंयम का आदर तो न होगा । जो लोग निश्चयनय की बात तो करते हैं, किन्तु उसका भान नहीं है, परिचय नहीं है, अनुभव नहीं जगा, ऐसे केवल निश्चयनय के अवलम्बी अर्थात् निश्चयाभासी पुरुष समस्त क्रियाकाण्डों के आडम्बर से विरक्त बुद्धि वाले हैं, वे व्रत तपश्चरण को आदर नहीं देते हैं बल्कि उन व्रत तपश्चरणों को हेय बताकर स्वयं उससे दूर रहा करते हैं और निश्चयनय के शुद्ध बुद्ध की कथनी करते हुए ऐसी मुद्रा बताते हैं, आधे नेत्र बन्द हैं आधे खुले नेत्रों से चर्चा करें । दूसरों की दृष्टि में यह बड़ा शान्त प्रतीत हो, बड़ी शुद्धतत्त्व की चर्चा करने वाला है, बड़े शुद्ध मिजाज का है, ऐसा प्रदर्शन करते हैं और अपनी कल्पना के अनुसार अपनी बुद्धि से जिस किसी भी तत्त्व को निरखकर बड़े सुखपूर्वक अपना जीवन बिताते हैं, ठहरते हैं, उनकी क्या स्थिति है? सीधे शब्दों में यों कह लीजिए कि भिन्न साध्यसाधन भाव का तो उन्होंने तिरस्कार ही किया था, व्रत तपस्या संयम नियम इनका तो उन्होंने तिरस्कार ही कर दिया और अभिन्न साध्यसाधन भाव अर्थात् शुद्ध आत्मतत्त्व का अनुभवन उन्होंने पाया नहीं तो यों स्थिति ही होती है उनकी जिसे कहते हैं व्यवहारिक आचरण से भी भ्रष्ट होता है और आन्तरिक आचरण से भी भ्रष्ट होता है ।

निश्चयाभासी की एक घटना—एक घटना महाराज जी सुनाते थे कि एक निश्चय एकान्त के वेदान्त के अभ्यासी कथन करने वाले पढ़ाने वाले गुरुजी किसी शिष्य को पढ़ाते थे । तो उस कथन में तो यही सिखाया जाता कि आत्मा नित्य शुद्ध है, मलिनता से रहित, है, उसमें रागद्वेष नहीं है, रागद्वेष प्रकृति में होते हैं अथवा कुछ जैनसिद्धान्त के निमित्त प्रकरण का आड़ लेने वाले यों कह सकते कि रागद्वेष तो कर्म में होते है, आत्मा में नहीं होते, आत्मा तो सदाकाल शुद्ध है, यही निश्चय एकान्त की शिक्षा है । इस दृष्टि में इसका बहिरङ्गरूप लोग नहीं निरखते हैं कि आखिर वर्तमान परिणमन कैसा है ? तो उन गुरुजी की व्यावहारिक स्थिति बड़ी विचित्र थी ।जहाँ चाहे खायें, पियें, जैसा चाहे खायें, अनाप-सनाप व्यवहार था । शिष्य था समझदार ।उसने कई बार निवेदन किया, गुरुजी आप यह क्या करते हैं, जिस चाहे की दूकानदार म्लेच्छ की मांसाहारी की दूकान पर.... । गुरु कहता है क्या है, आत्मा तो शुद्ध है । एक बार मांसाहारी म्लेच्छ की दूकान पर गुरुजी रसगुल्ले खा रहे थे । निश्चय एकान्ती गुरु की बात सुना रहे हैं । शिष्य को उस समय और कुछ न सूझा, गुरुजी के दो तमाचे जड़ दिए । गुरुजी बोले—अरे यह क्या कर रहे हो? शिष्य बोला—आप एक मांसाहारी की दूकान में रसगुल्ले क्यों खा रहे हैं? गुरुजी कहने लगे कि ये रसगुल्ले तो शरीर में गए, आत्मा तो शुद्ध है । तो शिष्य कहता हैं—महाराज ये तमाचे भी शरीर में लगे, आत्मा तो आपका शुद्ध है । कुछ भला होने पर था कि बात समझ में आई । ओह ! तुम ठीक कहते हो बीतती तो सारी बात इस आत्मा पर ही है।

निश्चयाभास में उभयभ्रष्टता—जो निश्चय एकान्त की बात करता है, व्यवहार आचरण को अत्यन्त हेय कहता है, उसकी प्रवृत्ति से दूर रहता है और सुखपूर्वक जिसमें लौकिक बड़प्पन मिले, जिसमें आराम में भी दखल न

आये, इसी प्रकार से रहता है उसकी यह स्थिति है कि इतो भ्रष्ट: ततो भ्रष्ट: । ये व्रत तपस्या आत्मा से भिन्न स्थितियाँ हैं, आत्मा तो शुद्ध ज्ञायकस्वरूप है, ये हेय हैं, यह तो माना और जिसकी चर्चा कर रहे हैं उस अभिन्न ज्ञानतत्त्व का आत्मस्वरूप का उसके अनुभव नहीं जगा, तब वे बीच में ही इतो भ्रष्ट: ततो भ्रष्ट: बन गए, वे प्रमाद की मदिरा के मद से आलसी चित्त वाले बन गए । पागल पुरुषों की भाँति यथातथा आचरण कर रहे अथवा मूर्छित पुरुषों की भाँति बेसुध हैं, अपने आपके भीतर का भी प्रकाश नहीं मिला और बाह्य आचरण को तो हेय बता ही रहे हैं । यों वे मूर्छित हुए की तरह अथवा सोये हुए की तरह हैं । जैसे सोया हुआ पुरुष बेकार पड़ा हुआ है, उसे कुछ अपना भान नही है, ऐसे ही केवल निश्चयाभासी पुरुष को अपने कर्तव्य का भान नहीं है किन्तु जैसे लोक में धन की तृष्णा वाले धन पाने के लिए ही उत्सुक रहा करते हैं अथवा नेतागिरी अर्थात् सरकारी ओहदों के पाने को तृष्णा में ही चित्त फंसाये रहते हैं, ऐसे ही शुद्ध बुद्ध आत्मा की चर्चा करके लोगों में अपना आत्म सौन्दर्य समझने वाले सुखपूर्वक इस ही भ्रम में बने रहा करते हैं । जैसे कोई बहुत घी मिश्री गरिष्ठ भोजन गरिष्ठ खीर पायस गरिष्ठ भोजन को खाकर जैसे आलसी हो जाते हैं, चित्त पड़े रहते हैं, बेकाबू हो जाते हैं इसी प्रकार ये निश्चयाभासी पुरुष भी प्रमाद के भार से यों बेहोश हो गए हैं ।

भ्रष्टाचरणी का व्यामोह—भ्रष्टाचरणी का मन भयानक होता है । मुद्रा तो शान्ति की है पर चित्त में करुणा नहीं है । करुणा रहित पुरुष संयम नहीं पाल सकता है । संयम का मूल ही दया है । जिन्हें अपने आपकी भी अनुकम्पा नहीं, परजीवों की भी अनुकम्पा नहीं, केवल एक चर्चा का व्यसन लगा है ऐसे उस भयानक मन के कारण उनका तो मोह दृढ़ हो रहा है । जैसे कोई पुरुष शारीरिक वेदना न सही जाने के कारण मरण पसंद करे, उसको आप मोही कहेंगे या नहीं? मोही है और कोई पुरुष धन का टोटा पड़ने के कारण मरण पसंद करे तो उसे आप मोही कहेंगे कि नहीं? शायद उससे भी ज्यादा मोही कहेंगे जो शारीरिक रोग की वेदना न सह सकने से मर रहा हो । उससे भी आप अधिक मोही उसे कहेंगे जो धन के नुकसान के कारण मर रहा है और कोई पुरुष लौकिक यश न बढ़ने से दु:खी होकर या किसी प्रकार लौकिक यश में घात हो जाने से दु:खी होकर मरे तो उसे मोही कहेंगे या नहीं? सम्भव है कि आप धन के पीछे मरने वाले से भी अधिक मोही यश घात से मरने वाले को कहेंगे और कोई पुरुष कुछ बात चर्चा करता हो और लोग उसकी बात को न माने तो मेरी बात नहीं मानी गई, मेरी बात टाल दी गई, इतनी बातपर कोई मरे तो उसे मोही कहोगे या नहीं? उसे भी मोही कहोगे और कोई पुरुष धर्म की चर्चा करके, आत्मा के स्वरूप की शुद्धता की कथनी करके, उस कथनी के विकल्पों से अपने को महत्वशाली समझकर उस चर्चा से इतनी प्रीति रखे कि लोगों के बड़प्पन का कारण, सुख का कारण एक उस कथनी को ही मान लिया ऐसी कथनी में आत्मत्व की बुद्धि रखने वाला, कथनी के विकल्प में आत्मत्व की बुद्धि रखने वाला पुरुष मोही कहलायेगा अथवा नहीं? मोही है ।

आत्मभ्रष्ट की जड़ता—जैसे कोई पुरुष बहुत गरिष्ठ भोजन करके बेकाबू बनकर लेटा रहे, आलसी रहे, इसी प्रकार गरिष्ठ मलाई आदिक भोजन करके, रस रसायन खा-खाकर जो बड़े पहलवान बनकर शरीर के अभिमान से जड़ से बन रहे हैं दिखने में वे बड़े काम कर रहे हैं, वे भी मूढ़ हैं, जड़ हैं, ऐसे ही जो केवल एक शुष्क केवल शुद्धस्वरूप

की चर्चा मात्र से ही अपना कर्तव्यपालन पूर्ण समझते हैं वे तो उस आलसी की तरह हैं और जो इस कथनी का प्रसार करके, प्रसार जानकर अपने को बड़ा पुरुषार्थी समझकर उस वातावरण से अपने को महान मान रहे हैं वे इस देहबल वाले पहलवान की तरह जड़ हैं । बड़े भयानक भाव से वे अपने आपके साथ छल कर रहे हैं, उनकी बुद्धि भ्रष्ट होने से विक्षिप्त हो गयी और जैसे चेतना से रहित वनस्पति पेड़ जैसे खड़े बेकार हैं इसी प्रकार व्रत तपस्या संयम नियम यम इन सभी को हेय मानकर केवल एक अपने शरीर को ही सुखपूर्वक रखकर चर्चा से एक अपनी प्रशंसा लूट कर जी रहे हैं वे वनस्पतियों की तरह एक भाररूप खड़े हुए हैं । अपने लिए तो भार है ही । ऐसे निश्चयाभासी पुरुष मुनीन्द्रों के द्वारा आचरण किए जाने वाले व्यवहारधर्म कर्म चेतन से अत्यन्त दूर रहते हैं ।

देखिये जैसे निश्चय शुद्ध आत्मा के ज्ञान से रहित होकर कोई केवल क्रियाकाण्ड करे तो वे भी सुधबुध से रहित हैं, इसी ही प्रकार व्रत तपस्याओं से रहित होकर और रहित ही नहीं किन्तु उनको हेय कहकर ग्लानि से देखकर केवल एक चर्चा मात्र से ही अपने को सुखपूर्वक रखे हैं वे भी शुद्ध शिवपथ से भ्रष्ट हैं और कोई व्रत तपश्चरण न करे उससे पुण्य बंध जायगा । पुण्यबंध बुरा है, ऐसी बात मन में रखकर उससे दूर ही रहा करते हें और भीतर में ज्ञानतत्त्व का कुछ अनुभव है नहीं तो उनकी दशा भी वही है जैसी केवल व्यवहारावलम्बी पुरुष की है । ये भी संसारसागर में भ्रमण करते हैं ।

कर्मयोग और नैष्कर्म्य का स्थान—किसी प्रकार का कर्म न करें, कर्मों के मायने यम, व्रत, नियम, प्रतिज्ञा कुछ न करें । हाँ कुछ न करें, बिल्कुल ठीक है, पर यह इनके लिए ठीक है जहाँ कोई किया कर्म नहीं हैं, ऐसे नैष्कर्म्य ज्ञानस्वरूप में जो मग्न हो गए हैं, यह स्थिति तो पायी नहीं और व्यवहारिक सत् आचरणों को हेय मानकर पुण्यबंध के भय से उनसे दूर रहा करते हैं । सीधी भाषा में यों कह लो कि पुण्यबंध के काम को बुरा समझकर उससे तो अलग रहते है और यह साहस उनके नहीं है कि पाप कर्मों का त्याग कर दें । तब यही निर्णय समझिये उनमें प्रकट और अप्रकट सर्वप्रकार के प्रमाद कषायें भरी हुई हैं । वे वर्तमान में भी कर्मफलचेतना को भोग रहे हैं और भावी काल में ऐसी स्थिति भी पा लेंगे कि जहाँ केवल कर्मचेतना भोगने की ही प्रधानता हो । ऐसे स्थावरों तक में जन्म ले लें । इस प्रकार के अलसियायें हुए ये निश्चयावादी पुरुष केवल पापों का ही बंध करते हैं । इस प्रकरण में बात यह दिखाई गई है कि करने योग्य बात यह है कि लक्ष्य बनाये अपना शुद्धस्वभाव में मग्न होने का और इसी के लिए प्रयत्न करें । इसके अपात्र बन जाये, ऐसी कोई परिणति न करें । पापों में लगने की परिणति आत्मानुभव की अपात्रता का निर्माण करती है । पापों से दूर रहे वही हो गया संयम, वही हो गया नियम, वही हो गया व्रत।

निश्चय व व्यवहार के विरोध में अलाभ—निश्चय और व्यवहार, दोनों का विरोध न रखकर जब-जब जिस पद में जितना व्यवहार रहता है उस व्यवहार में रहते हुए निश्चय शुद्धतत्त्व को मुख्यता और लक्ष्य रखते हुए धर्म का आचरण करें, किन्तु जो इन दी बातों में से केवल व्यवहार का ही एकान्त रखते हैं, न उनको शान्तिलाभ है और जो व्यवहार आचरण का विरोध करके केवल एक चर्चा कथनी का ही अनुराग रखते हैं, न उन्हें शान्तिलाभ है । निश्चय का आलम्बन करने वाला अगर निश्चय से निश्चय को जान रहे हैं तब तो उनसे महान और कौन है, पर निश्चय से निश्चय को जान तो नहीं रहे हैं, उस तत्त्व का अनुभव तो नहीं किया है, किन्तु एकान्त निश्चय का आलम्बन

बना ले, वे उन आचरणों के करने का तो नाम भी नहीं लेते, बाह्य आचरणों में आलसी बने रहते हैं तो वे वास्तविक जो आध्यात्मिक आचरण है उसका भी विनाश कर डालते हैं ।

आत्मतत्त्व के अपरिचयी का कथनप्रसंग—जैसे किसी पुरुष ने मिश्री नहीं खायी है, उसके स्वाद का परिचय नहीं है, किन्तु साहित्यिक कला उसकी ऐसी है कि उस मिश्री के स्वाद का बहुत-बहुत वह वर्णन कर सकता है । देखो भाई मिश्री बहुत मीठी होती है, कैसी मीठी होती है? देखो—तुमने गन्ना तो चूसा ही होगा ना? हाँ-हाँ । गन्ने के चूसने में जो स्वाद आता है उससे अधिक स्वाद रस पीने में आता है और रस को गाढ़ा कर लिया जाय तो उसमें अधिक मिठास है, और रस का मैल हटाकर गुड़ बनाया जाय तो देखो उस मीठेपन का बाधक मैल था, वह मैल निकाल दिया तो उसमें मीठापन बढ़ा ना? हाँ बढ़ा । उस गुड़ के मैल को भी निकालकर शक्कर बना ली जाय तो उसमें और ज्यादा मीठापन है, और उस शक्कर का भी मैल निकालकर मिश्री बना ली जाय तो वह तो सबसे अधिक मीठी है । सुन-सुनकर इतनी बातें कर लेने पर भी जिसने मिश्री का स्वाद आज तक भी नहीं लिया तो कथनी के करने से मिश्री के स्वाद का अनुभव तो न हो जायगा । ऐसे ही जिसकी अनन्तानुबंधी कषायें शिथिल नही हुई हैं, उपशान्त नहीं हुई हैं, अतएव पर्याय की पकड़ जिनकी नहीं गई है, जिस किसी भी अनात्मतत्त्व में यह मैं हूँ, मैं अमुक ही नाम वाला तो हूँ, इतने ही बच्चों का बाप तो हूँ, अमुक नगरी का रहने वाला ही तो हूँ, और मैं कौन हूं? जिस किसी भी पर्याय में आत्मबुद्धि जिसकी बनी हुई है, आत्मतत्त्व का कभी अनुभव नहीं किया वह अपनी साहित्यिक कला के बल से उस आत्मतत्त्व का कितना ही वर्णन कर ले युक्ति से, अनुमान से, फिर भी आध्यात्मिक आचरण, स्वरूपाचरण आत्मानुभूति तो उनके नहीं जगती ।

आवश्यक ज्ञान और आचरण—भैया ! जिसे छूटना है संकटों से उसका छूटा हुआ ही स्वभाव है ऐसा जब तक अनुभव में न आये तब तक छूटने का उपाय कैसे बनेगा? तब जैसे केवल व्यवहार के आलम्बन में शान्तिलाभ नहीं है ऐसे ही केवल निश्चयनय के आलम्बन में भी शान्तिलाभ नहीं है । अत: निश्चय और व्यवहार का विरोध न करके धर्म के आचरण में चले तो उस प्रवृत्ति में वीतरागता बनेगी और वीतरागता होने से ही ये संसार के समस्त संकट दूर होंगे । एतदर्थ अविरोधपूर्वक अपना ज्ञानार्जन और आचरण दोनों में बराबर यत्न होना चाहिए । गृहीतमिथ्यात्व, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ व इन्द्रियों के विषयों की वाञ्छा व अन्य अभिलाषाओं से विरक्त होना—यह तो सदाचरण करना ही चाहिये । इसमें तो व्यवहार व्यवस्था भी है और आत्मविशुद्धि भी है । इन आचरणों के करने पर भी अपने आपके सहजस्वरूप की रुचि व आचरण करना मौलिक कर्तव्य है ।

निश्चयमोक्षमार्ग व व्यवहारमोक्षमार्ग की एकाधिकरणता—मोक्षमार्ग में चलने वाले पुरुषों की पद्धति दो तरह की होती है—एक निश्चयमोक्षमार्ग और दूसरी व्यवहारमोक्षमार्ग । कहीं इसका मतलब यह नहीं है कि निश्चयमोक्षमार्ग भी मोक्ष को देता है और व्यवहारमोक्षमार्ग भी मोक्ष को देता है । यह भी अर्थ नहीं है कि कोई पुरुष व्यवहारमोक्षमार्ग से गुजर बिना केवल निश्चयमोक्षमार्ग से चलकर मोक्ष पहुंचे या केवल व्यवहारमोक्षमार्ग से चलकर मोक्ष पहुंचे, पुरुष वह एक ही है और उसका अन्तरङ्ग में निश्चयसम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान व निश्चयसम्यक्चारित्र का आविर्भाव होने से वह मोक्षमार्गी है, किन्तु साथ ही ऐसे उस निश्चयमोक्षमार्ग का आरम्भ करने वाले पुरुष के पूर्वबद्ध

राग का अवशेष है, अत: उस राग के उदय में रागमयी प्रवृत्ति होती है । वह प्रवृत्ति किस तरह होती है? उस राग के समय में यह ज्ञानी पुरुष श्रद्धान का किस प्रकार प्रयोग करता, ज्ञान का किस प्रकार प्रयोग करता और चारित्र का किस प्रकार प्रयोग करता है, बस इस विशेषता का नाम है व्यवहारमोक्षमार्ग । इसी कारण इन दोनों का परस्पर अविरोध रखकर जो ज्ञानी मोक्षमार्ग में चलता है वह अपने उद्देश्य में सफल होता है ।

पक्षाग्रह व निष्पक्षता का अधिकारी—जो कोई केवल व्यवहार एकान्त मानकर चलते हैं उनकी क्या परिस्थिति होती है, यह दिखा दी गई और जो केवल निश्चय एकान्त पर चलते हैं उनकी क्या परिस्थिति होती है, वह भी बतायी गयी है । ये दोनों ही एकान्ती संसारसागर में भ्रमण करते हैं, परन्तु जो पुरुष अपुनर्भव के लिए अर्थात् फिर भव धारण न करना पड़े ऐसी परिस्थिति पाने के लिए नित्य उद्योगशील हैं अतएव महाभाग हैं, पुण्य पुरुष हैं वे निश्चय और व्यवहार इन दोनों में से किसी एक का आलम्बन न लेने से अर्थात् किसी को प्रधान न बनाने से अत्यन्त मध्यस्थीभूत हैं, और वे ज्ञानी पुरुष निश्चय व्यवहार के अविरोधपूर्वक आचरण करके मुक्ति को प्राप्त कर भी लेते हैं और जो किसी एकान्त में अपना उपयोग फंसाये हैं जैसे मान लो कोई व्यवहार एकान्तवादी है तो उसके समक्ष निश्चयतत्त्व की चर्चा रखें तो उसे बड़ी कठिन लगती है, सुनना नहीं चाहता है, क्रोध करने लगता है । हालांकि जो बात निश्चयनय से रखी जायगी वह गलत नहीं है, किन्तु व्यवहारएकान्त का परिणाम होने से उसे सही बात सुहाती नहीं है, और कभी-कभी तो यह जानकर भी कि ये सब बातें सत्य हैं, तत्त्व यही है जानते हुए भी उसके विष्ट बोलना पड़ता है और उसका निराकरण करता है । इतने विकट पक्ष की स्थिति बन जाती है । व्यवहारैकान्तपक्ष की तरह जो निश्चयएकान्त को पसंद करते हैं, निश्चयएकान्ती हैं वे व्यवहार के व्रत तप की क्रियाएँ सुनकर या व्रत तप का कोई आचरण करता हो तो उससे घृणा करते हैं, ऐसे विकट पक्ष की स्थिति निश्चयएकान्त वादियों के भी हो जाती है, मध्यस्थता नहीं आ पाती है । व्यवहारवादी को भी देख सके, सुन सके, निश्चयवादी को भी देख सके, सुन सके, ऐसी मध्यस्थ स्थिति नहीं हो पाती है ।

अपुनर्भव के उद्यमी की भावना—जो वास्तव में अपुनर्भव के लिए उद्यमी हुए हैं, ईमानदारी से अपने अंतःकरण से जो अपने आत्मकल्याण के लिए उद्यमी हुए हैं उन्हें किसी का पक्ष नहीं सुहाता है । उन्हें आत्मकल्याण ही चाहिए । वे जानते हैं कि यह पुरुष मायारूप है, कुछ क्षण को इसका समागम है, अन्त में यह भी विघट जायगा, हम भी विघट जायेंगे । इस समुदाय में हमें क्या सुनना, क्या पक्ष रखना? इनमें अपनी बात मनाने का क्या हठ करना? जब यह मैं मनुष्य स्वयं न रहूंगा तब इतने दुर्लभ अवसर को कहाँ एकान्त के विष में ढालकर बरबाद करना? उसके आत्मकल्याण की भावना रहती है । वह हम सब पुरुषों में मध्यस्थ रहता है । यह आत्मकल्याणार्थी पुरुष शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्व में स्थिर रहने के लिए सावधान रहा करता है ।

अपुनर्भवार्थी की अन्तर्बाह्यवृत्ति—एकान्तियो की दृष्टि बाहर ही रहा करती है, वे अंतस्तत्त्व का स्पर्श नहीं करते, किन्तु यह मध्यस्थ पुरुष, यह आत्मकल्याणार्थी पुरुष चैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्व में स्थिर रहने के लिए लालायित रहता है और इसी कारण जब कभी प्रमाद की परिणति जगती है तो उस प्रमाद भाव को दूर करने के लिए शास्त्र की आज्ञानुसार क्रियाकांडों को भी करता है । किसी भी प्रकार मेरा आत्मा पवित्र लक्ष्य की ओर बना रहे, इसकी सिद्धि

के लिए व्यवहारिक क्रियाकांडों को भी ग्रहण करता है । कहीं यह प्रमाद और रागभाव हमें उल्टे मार्ग में न ले जाय उन सब उपद्रवों से बचने के लिए यह ज्ञानी व्यवहारचारित्र का भी पालन करता है और इन क्रियाकाण्डों के पालन के माहात्म्य से उन प्रमाद भरी वृत्तियों को दूर करता है ।

आत्महितार्थी की धुन—इस आत्महितार्थी के तो केवल यही धुन समायी है कि मेरा यह ज्ञानस्वरूप यथार्थरूप में रहा करे, मुझे और कुछ न चाहिए, मुझे लोगों में कुछ नहीं जंचाना है ऐसे विशुद्ध भावों से निश्चय और व्यवहार इन दोनों के अविरोध के कारण यह ज्ञानी जीव, कल्याणार्थी जीव मध्यस्थ बना हुआ है । उसका निरन्तर उद्योग यही रहता है कि समस्त योग्यता समस्त शक्ति को लेकर निज आत्मा को आत्मा के द्वारा आत्मा से ही संचेतन करने का उद्यमी रहा करे । विकल्प टलें, निर्विकल्प स्थिति बने, इसके लिए यह अन्तरङ्ग में देखता भी रहता है । यह ज्ञान अपनी ओर में आये । अपने मूल में कितना आ रहा है, आने दो और यह ज्ञान इस ज्ञानस्वरूप में मग्न हो जाय, इस तरह की वृत्तियों को वह तकता रहता है और यत्न करता रहता है कि यह ज्ञान अब अपने आप में मग्न होने वाला है, उसका ही एक मौन यत्न करना है । यह उसके भीतर में स्थिति रहती है ।

अपुनर्भव के उद्यमी के पुरुषार्थ का आरम्भ—अपुनर्भव का उद्यमी पुरुष अपने अंत: प्रयत्न के द्वारा स्वतत्त्व में विश्राम करता है । जैसे-जैसे उसका निज ज्ञानस्वरूप में विश्राम होता है, पक्ष मिटता है, रागद्वेष की वृत्तियां समाप्त होती है, अपने आप में ज्ञानानुभव करता है, विशुद्ध स्वाधीन आनन्द जगता है वैसे-वैसे ही ढंग से कर्मों का भी वह निर्जरण करता रहता है । १४ गुणस्थान जो बताये गये हैं वे सम्यक्त्व और चारित्र गुण की विशेषता की स्थिति बताया करते हैं । संसार के प्राय: सभी जीव मिथ्यात्व गुणस्थान में पड़े हुए हैं । मिथ्यादृष्टि जीव के किसी भी प्रकार के कर्मों का सम्वर नहीं होता और मोक्षमार्ग के प्रयोजनभूत निर्जरा भी नहीं होती । हाँ यह मिथ्यादृष्टि जीव जब सम्यक्त्व के सम्मुख होता है तो अध:करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण परिणामों में लगने पर अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण परिणाम के समय इसके बहुत से कर्मबन्ध रुक जाते हैं । यद्यपि इस बन्धन के रुकने का नाम सम्वर नहीं है, लेकिन यह सम्वर की तरह है । सम्यक्त्व की सन्मुखता का भी इतना बड़ा माहात्म्य है जिस प्रकृति का सम्वर छठे गुणस्थान तक में हुआ करता है, ७वें गुणस्थान तक में हुआ करता है । प्राय: कई उन प्रकृतियों का सम्वर नहीं, किन्तु बन्ध निरोध यह मिथ्यादृष्टि सम्यक्त्व के सन्मुख होने पर कर डालता है ।

मोक्षमार्गी आत्मा के संवर की विशेषता—दूसरा गुणस्थान मिथ्यात्व के बाद नहीं आया करता, किन्तु उपशम सम्यक्त्व से गिरने पर आया करता है । किन्तु उपशम सम्यक्त्व के समय जीव के सम्वर निर्जरा चल रही थी, सो गिरने के बाद दूसरे गुणस्थान तक भी कुछ प्रकृतियों का सम्बर चलता रहता है । जो सम्वर दूसरे में है वह तथा और भी विशेष सम्वर तीसरे में है, फिर ज्यों-ज्यों गुणस्थान बढ़ते हैं त्यों-त्यों संवर भाव बढता है और निर्जरा बढ़ती है । वह क्या है? जैसे-जैसे यह आत्मा निज ज्ञानस्वरूप में विश्राम लेता रहता है वैसे ही वैसे कर्मों का झड़ना बढ़ता जाता है । सब माहात्म्य अपने आपका अपने आपके स्वरूप में मग्न करने का है । मोक्षमार्गी पुरुष की ऐसी आन्तरिक वृत्ति होती है ।

अन्तर्दृष्टि व बाह्यदृष्टि के रुचिया—मिथ्यादृष्टि जन बाहर ही बाहर अपनी दृष्टि लगाये रहते हैं । किसी भी क्षण

ये अपने आपको छूते भी नहीं । कभी धर्म करने की धुन जगे तो भी बाहर-बाहर की दृष्टि लगाये रहते हैं । धर्मपालन के नाम पर देव, शास्त्र, गुरु की सेवा भी बहुत करते हैं, भक्ति और पूजा भी बहुत करते हैं, पर किसी क्षण ऐसा ही स्वरूप तो मेरा है, ऐसा अनुभव नहीं कर पाते । बाहरी क्रियाकलापों से हमारा उत्थान होगा—यह ही दृष्टि रहा करती है, किन्तु ज्ञानी जीव व्यवहारभक्ति करते हुए भी लक्ष्य में यही बनाये हुए हैं कि इन ही की तरह मेरा स्वरूप कब विकसित हो जाय ऐसी उनकी दृष्टि होती है ।

चैत्यवन्दन—प्रभुमूर्ति के दर्शन के प्रसंग में भी ज्ञानी और अज्ञानी की वृत्ति का अन्तर देखिये—ज्ञानी पुरुष मूर्ति के समक्ष दर्शन करते हुए भी जिनकी यह मूर्ति बनायी है, स्थापना की है ऐसे वे प्रभु तीर्थंकर समवशरण में विराजमान हैं, उनकी उस-उस प्रकार की घटनाओं को व गुणों को स्मरण करते हुए वन्दन करते हैं, नमन करते हैं तब अंतस्तत्व का अपरिचयी केवल मूर्ति के नाक, आँख को ही निरख-निरखकर ये ही प्रभु हैं, ये ही भगवान हैं, ऐसा देख-देखकर उस ही पर रुचि करते हैं और खुश होते हैं । वह एक मुद्रा है और जिस मुद्रा की स्थापना की है इस स्थापित मुद्रा को देखने से उस मुद्रा का भान होता है तो जिनकी स्थापना है उनके गुणों के स्मरण सहित वन्दन नमन हो वह तो ज्ञानी की वृत्ति होती है और अज्ञानी की वृत्ति मूर्ति के नाप-तौल में अटक जाती है । जैसे बालक भी जानते हैं ये बड़े भगवान हैं, ये छोटे भगवान हैं । छोटी मूर्ति को बच्चे छोटे भगवान कहते हैं बड़ी मूर्ति को बच्चे बड़े भगवान कहते हैं । अरे मूर्ति तो एक मुद्रा है, भगवान न छोटे हैं, न बड़े हैं, सब एक समान हैं । भगवत्स्वरूप का परिचय हुए बिना कितनी ही विडम्बनाएँ बन जाती हैं ।

परमस्वार्थ—एक ज्ञानी पुरुष जिसे यदि वह कहा जाय कि यह परमस्वार्थी है तो इसमें कुछ अत्युक्ति नहीं है । यह परम जो स्व में स्वरूप है उसकी ही निरन्तर चाह करता है । जिसे कहते हैं खुदगर्जी वह खुदगर्जी परमस्वार्थियो के पास फटक नहीं पाती है । जो स्वरूपार्थी अपने देह इन्द्रिय विषयों के लिए भी रुचि नहीं रखते वे किसी प्रकार की आशा खुदगर्ज क्या कर सकेंगे, जिसमें दूसरे पुरुषों को हानि हो, कष्ट हो । ऐसा यह परमस्वार्थी परम विवेकी परमतत्त्वज्ञानी पुरुष अपने स्वरूप में विश्राम करता है और उस विश्राम के अनुसार क्रम से कर्मों का परित्याग करता है ।

निष्प्रमादता व निर्भया मुद्रा—अब ये ज्ञानी पुरुष अपने आत्मा में मग्न होनेरूप परमपुरुषार्थ में परम क्रिया में निष्प्रमाद हो गए हैं । विषयों में रुचि जगना, विषयसाधन कमाने के लिए भाग-दौड़ करना, ये सब प्रमाद हैं और मन, वचन, काय की क्रियावों को रोककर ज्ञान को अपने ज्ञानस्वरूप में समा देना, यही निष्प्रमाद अवस्था है । यह पुरुष पूर्ण रूप से निष्कम्प मूर्ति बन जाता है । इसको अगर वनस्पतियों से उपमा दें तो कदाचित् किसी मूड में दे सकते हैं । वृक्ष भी कहीं भागते नहीं हैं, ये ज्ञानी पुरुष भी दौड़-धूप नहीं मचाते हैं, लेकिन वनस्पति तो कर्मफल का अनुभव करते हैं, किन्तु यह ज्ञानी कर्मफलों का अनुभव नहीं करता है । और वनस्पतियों में सचेतन वनस्पतियों को उपमा न दे, किन्तु कोरे खड़े हुए ठूठों से उपमा दें । ये ऐसे निष्कम्प रहते हैं तो यह उपमा और चोखी रहेगी । देखो ना भैया ! तभी तो बनों में ध्यानस्थ मुनि के शरीर को हिरण पत्थर समझकर उनसे ही खाज खुजाने लगते हैं । किसी साधु पुरुष से न कोई पशु डरे, न पक्षी डरे, न अबोध बालक डरे ।

ज्ञानी की बाह्यनिरुत्सुकता—ये ज्ञानी पुरुष कर्मों के अनुभव करने में निरुत्सुक रहते हैं । इनकी दृष्टि केवल स्वयं की ओर है, सुख दुःख इष्ट अनिष्ट मन, वचन, काय की चेष्टाएँ इनकी और रुचि नहीं है । ज्ञानियों की रुचि है अपने आपको अपने आप में मग्न करने की । ये ज्ञानीपुरुष जो अपुनर्भव की प्राप्ति के लिए उत्सुकता रखते हैं वे केवलज्ञान की अनुभूति से उत्पन्न हुए तात्विक आनन्द से भरे-पूरे रहा करते हैं । सभी जीव कुछ न कुछ अनुभव किया करते हैं, लेकिन कोई तो इन्द्रियज सुख का अनुभव करते हैं और कोई इन्द्रियज दुःख का अनुभव करते हैं, किन्तु यह मोक्षगामी पुरुष, पूज्य पुरुष मात्र ज्ञानस्वरूप का अनुभव करता है । अनुभवन करने का तात्पर्य है प्रकर्ष रूप से किसी को जानते रहना । इसका जब जानन का काम है तो न जाना बाह्यपदार्थों को, अपने आत्मस्वरूप को ही जानने लगे तो क्या ऐसा नहीं जानेगा? जान लेगा । न जाने बाह्य अर्थों को, मैं किस रूप हूँ, इस स्वरूप को ही जानने लगे वहाँ ज्ञान की अनुभूति होती है । किसी बाह्य को जानने से मेरा कुछ प्रयोजन सिद्ध न होगा, मुझे शांति न मिलेगी, ऐसा निश्चय होने के कारण ये ज्ञानी पुरुष बाह्य को जानने में निरुत्सुक हैं।

शाश्वत शब्दब्रह्मफल का भोक्तृत्व—ज्ञानी पुरुष बहिस्तत्त्व को जानने में नितान्त निरुत्सुक है अतः अपने आपके जानने के लिए ही वे उद्यमी रहा करते हैं । अतएव वे शुद्ध आनन्दरस से परिपूर्ण रहा करते है । ऐसे ही ज्ञानी पुरुष बहुत ही जल्दी इस संसारसमुद्र से तिरकर इस शब्दब्रह्म का फल जो ज्ञानब्रह्म है, शाश्वत है उस ज्ञान ब्रह्मस्वरूप के भोक्ता हो जाया करते हैं । सभी चीजें ३ रूपों में बाटी जा सकती हैं—शब्द अर्थ और ज्ञान । जैसे पुत्र को तीन रूपों में बाँटे—शब्दपुत्र, अर्थपुत्र और ज्ञानपुत्र । आप पुत्र से प्रेम करते हैं तो यह बताओ कि शब्दपुत्र से प्रीति कर सकते हैं या अर्थपुत्र से प्रीति कर सकते हैं या ज्ञानपुत्र से प्रीति कर सकते हैं? पु और त्र ऐसे दो अक्षर लिख दिये जायें उन अक्षरों का नाम है शब्दपुत्र । कोई इन दो अक्षरों से प्रेम करता है क्या? जो दो हाथ पैर वाला घर में पुत्र है उसे अर्थपुत्र कहते हैं । क्या आप अर्थपुत्र से प्रीति निभा सकते हैं? वह जुदा पदार्थ है, आप जुदे पदार्थ हैं, आपकी कुछ भी परिणति अन्य पदार्थों में नहीं पहुंचती, किन्तु उस अर्थपुत्र को विषय करके जो कल्पना में समाया हुआ है वह है ज्ञानपुत्र । कल्पना में परिणत आप उस कल्पना से प्रीति करते हैं । ब्रह्म को भी तीन रूपों में बाँटों—शब्दब्रह्म, अर्थब्रह्म और ज्ञानब्रह्म । आत्मा के स्वरूप का नाम है—ब्रह्म । ब्रह् और म—ये अक्षर लिख दिये जायें इसका नाम है शब्दब्रह्म अथवा इस शब्दब्रह्म को बताने के लिए जितने भी ये आगम बने हुए हैं ये सब हैं शब्दब्रह्म । और जो आत्मा है वह अर्थब्रह्म है और उस आत्मा के सम्बंध में जो ज्ञान चलता है वह ज्ञानब्रह्म है । शब्दब्रह्म का तो यह भोक्ता होता नहीं और अर्थब्रह्म यह स्वयं है । तब ज्ञानब्रह्म द्वारा इस अर्थब्रह्म को विषय कर-करके ज्ञानी पुरुष अर्थब्रह्म को भी भोगता है, ज्ञानब्रह्म को भी भोगता है, क्योंकि ये दोनों अभिन्न हैं और निज की चीज हैं अर्थात् इस तरह ज्ञानमार्ग द्वारा बढ़-बढ़कर यह जीव मोक्ष के आनन्द को प्राप्त करता है ।

अन्तिम शिक्षण—जिन्हें निर्वृत्ति चाहिए उनका कर्तव्य है कि वे वीतराग बने, और वीतरागता पाने के लिए निश्चय और व्यवहार का विरोध न करके मोक्षमार्ग में बढ़ते रहें, इससे हम आप सब संसार के संकटों से छूट सकते हैं । यह गाथा पञ्चास्तिकाय की उपान्त्य गाथा है । निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग का विवरण करके श्री कुन्दकुन्द देव ने कर्तव्यपालन की प्रेरणा देते हुए यह कहा है कि जो निर्वृत्ति की, निर्वाण की, अपुनर्भव की इच्छा

करते हैं अर्थात् जो संसार के बन्धनों से छुटकारा चाहते हैं वे समस्त पदार्थों में मोह, राग व द्वेष न करें, क्योंकि वीतराग आत्मा ही भवसागर से तिरता है। वीतरागता का उपाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र का पुरुषार्थ है। अत: सर्व प्रयत्नपूर्वक रत्नत्रय की, अन्तस्तत्त्व की आराधना करो।

गाथा 173

मग्गप्पभावणट्ठं पवयणभत्तिप्पचोदिदेण मया।
भणियं पवयणसारं पंचत्थियसंगह सुत्तं ।। १७३ ।।

ग्रन्थनसमाप्ति सूचना—यह गाथा पंचास्तिकाय की अन्तिम है। इसमें ग्रन्थकार की क्रिया समाप्ति की सूचना है और साथ ही ग्रन्थ समाप्त कर देने के कारण जो एक विश्रांति और शान्ति प्राप्त होती है उसका भी इसमें दिग्दर्शन है। ग्रन्थकार श्री कुन्दकुन्द देवाचार्य कहते हैं—प्रवचन की भक्ति से प्रेरित होकर मेरे द्वारा मार्ग की प्रभावना के लिए पंचास्तिसंग्रह नाम का प्रवचनसार सूत्र कहा गया है।

कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य के प्रयोग का अन्तर—बोलने के वाक्य दो प्रकार के होते हैं—एक कर्तृवाच्य और एक कर्मवाच्य। जैसे मैं पुस्तक को लिखता हूँ यह कर्तृवाच्य है। मेरे द्वारा पुस्तक लिखी जा रही है यह कर्मवाच्य है। दोनों प्रकार के कथन में भावों का अन्तर है। कर्तृवाच्य तो कुछ गर्व और अहंकार की ध्वनि को बताता है और कर्मवाच्य अहंकार की शिथिलता को बताता है। जैसे कहा जाय कि मैंने यह काम बनाया है और इसही को यों कहा जाय कि मेरे द्वारा यह काम बन गया है। अन्तर हुआ भावों में और यह कहा जाय कि मेरे निमित्त से काम बन गया और अधिक अन्तर आ गया। इस गाथा में ग्रंथकार कर्मवाच्य का प्रयोग करके कह रहे हैं—मेरे द्वारा यह पंचास्तिकायसंग्रह कहा गया है।

ग्रन्थयोजना का कारण परमागमभक्ति की प्रेरणा—क्यों कहा इस सूत्र को ग्रंथकर्ता ने? तो ग्रंथकर्ता अपना एक विशेषण यों कह रहे हैं कि जिससे निरहंकारता की और सिद्धि हो जाय। परमागम की भक्ति से प्रेरित होकर यह सूत्र मेरे द्वारा कहा गया है। इसमें कितनी हि ध्वनियां लगाते जाये। मैं एक शुद्ध ज्ञायकस्वरूपकर्ता भोक्ता के विकल्पों से परे यह मैं ज्ञाताद्रष्टा आत्मतत्त्व क्या करूँगा, इसका कुछ भी करने का बोलने का स्वभाव नहीं है, किन्तु इस आत्मा में लगे हुए रागद्वेष विकारों से प्रेरित होकर इस जीव की चेष्टाएँ चलती रहती हैं। किसी का राग शुभ विषय सम्बंधी होता है, किसी का राग अशुभ विषय सम्बंधी होता है, पर प्रेरणा दोनों में बसी हुई है। शुभ राग से भी प्रेरणा चलती है और अशुभ राग से भी प्रेरणा चलती है। प्रवचन की भक्ति से यह मैं प्रेरित हूँ।

प्रवचन और प्रवचनभक्ति—प्रवचन कहते हैं प्रमाणिक वचनों को। प्रवचन कहो या परमागम कहो दोनों एक ही बात हैं। मैं क्यों प्रेरित हुआ प्रवचन परमागम से, इसे सुनिये—संसार में अनादिकाल से भटकते हुए मुझ आत्मा को अब तक अनन्तकाल जो व्यतीत हुआ है, अब तक शान्ति के मार्ग का पता नहीं पा सका था और अनादि मलिनता वश विषयों में सुख है, हित है, ऐसी बुद्धि कर-करके इन विषयों में ही लगा रहा था कि जिन विषयों की प्रीति अत्यन्त असार है, विषय भी पानी के बबूले की तरह अथवा स्वप्न की तरह एक दिखावट मायारूप हैं, और विषयों की चाह भी मायारूप स्वप्नवत् एक विकार आया हे। न विषय रहेंगे, न यह इच्छा रहेगी, किन्तु विषयों की इच्छा

कर जो भोग प्रसंग में विकार लगाया है उससे जो वासना बनी, पापबंध हुआ, वह भविष्य में बहुत काल तक चलेगा । इन विषयों के प्रसंग में जीव को लाभ नहीं हुआ, न होता, हानि ही हानि सदा रही आयी । अब सौभाग्यवश उत्तम कुल पाया, उत्तम धर्म की संगति मिली, ऐसे प्रकृष्ट वचन पढ़ने और सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, उससे ज्ञाननेत्र खुले और जिस विपदा विडम्बना में बहे जा रहे थे, हम को इस आगम का सहारा मिला, इस कारण प्रवचन की प्रकृष्ट भक्ति उत्पन्न हुई है ।

परमागम से आत्महित की प्रेरणा—इस परमागम में यथार्थ वस्तुस्वरूप का निरूपण है । कोई भी वैज्ञानिक, कोई भी अन्वेषक खूब युक्तिपूर्वक खोजकर निरख ले प्रत्येक पदार्थ अपने ही सत्त्व से सहित है, अतएव अपने ही स्वरूप से है, अपने ही परिणमन से परिणमता है । किसी एक पदार्थ का किसी दूसरे पदार्थ के साथ रंच सम्बन्ध नहीं है । इस मोही अथवा मोहभाव से तो यह जड़ ही अच्छा है जिसको किसी प्रकार का आकुलता का विकार तो नहीं उत्पन्न होता । इस मोही ने अब तक वस्तु के स्वरूप के विमुख बन-बनकर कष्ट ही कष्ट सहा । इन अनन्तानन्त प्राणियों में से जब कभी किसी भी भव में जिस किसी भी दो-एक जीवों को अपना सब कुछ मानकर चला, फल क्या निकला? कोई कभी होता तो है नहीं अपना । किसी परवस्तु को अपना मान लें तो भले मान लो, किन्तु परवस्तु अपनी बनकर रहती नहीं, अपनी इच्छा से परिणमती नहीं तब केवल क्लेश ही क्लेश का अनुभव होगा । जैसे आप किसी पुरुष को अपना मित्र समझ लें और उस पर प्रीति बढ़ा लें, विश्वास कर ले और कभी भी अपने प्रतिकूल बन जाय तो खेद होता है । क्यों खेद हो? यों तो प्रतिकूल सारा जगत है । खेद यों हुआ कि हमने उसे अपना माना और अपने विरुद्ध वह रहा तो यही बात सर्वत्र घटा लीजिए । कुटुम्ब को हम अपना मानते हैं पर कुटुम्ब अपना होकर रहता नहीं । उसका जैसा परिणमन है उस अनुरूप होता है तब यह कष्ट सहता है कल्पनाओं का।

परमागम के प्रसाद से ज्ञाननेत्र का उन्मीलन—इस परमागम के प्रमाणिक वचनों ने हमारे ज्ञाननेत्र खोल दिये । मेरा तो देह तक भी नहीं है । कोई क्षण जल्दी ही आने को तो है ना कि इस देह से भी न्यारा होकर हम चले जायेंगे । जब देह तक भी मेरा नहीं है तो देह में उत्पन्न हुए इन्द्रियों के विकार में हम क्यों उपयोग फंसाये? और देह तो यहीं रहेगा, हम पापी बनकर आगे अपनी कुयात्रा करेंगे । तत्त्व की कौनसी बात है? इस प्रवचन के प्रसाद से मेरे ज्ञाननेत्र खुले अतएव इसमें तीव्र भक्ति होती है । उस भक्ति से प्रेरित होकर मेरे द्वारा यह पंचास्तिसंग्रह सूत्र कहा गया है ।

मार्गप्रभावना—इस ग्रन्थ को कहने का प्रयोजन भी केवल मार्ग की प्रभावना है । मार्ग मायने है परमेश्वर की परम आज्ञा । भगवान अरहंत परमेश्वर उनकी जो परम आज्ञा हुई है, दिव्यध्वनि में जो शासन प्रकट हुआ है उसे कहते हैं मार्ग । यह मार्ग उत्कृष्ट वैराग्य कराने में समर्थ है । जिनआगम की सारभूत बात यह है कि जो राग करेगा सो कर्मों से बंधेगा और दुःखी होगा । जो राग न करेगा वह कर्मो से छूटेगा और सुखी होगा । गृहस्थों में सद्गृहस्थ वह है जो गृहस्थी के प्रसंग में मध्य में रहकर भी सदा अपना यह ज्ञान जागरूक बनाये रहते हैं कि मेरा तो जब यह देह भी नहीं है तो ये मिले हुए समागम मेरे क्या होंगे? घर में रहना तो जैसे अज्ञानी का बना रहता है, ऐसे ही ज्ञानी का बना रहता है, किन्तु भावों की दृष्टि के भेद से ज्ञानी और अज्ञानी गृहस्थ में बड़ा अन्तर है । जिसका

ज्ञान विशुद्ध है उसे आकुलता नहीं हो सकती, जिसका ज्ञान अपने इस विविक्त ज्ञानस्वरूप की जानकारी से दूर है वह सदा आकुलित रहता है । तो प्रभु की परम आज्ञा यही है कि निर्मोह बनो, वीतराग बनो और अपने आपके स्वरूप में बसे हुए परम आनन्द का भोग करो, आनन्दमय बनो ।

परमेश्वर की परम आज्ञा—भैया ! क्यों व्यर्थ में कष्ट सहा जा रहा है । कुछ मिलता भी नहीं, कुछ साथ भी नहीं, सब न्यारे-न्यारे काम हैं, फिर क्यों परवस्तुवों से अनुराग किया जा रहा है, मोह किया जा रहा है? सबसे विविक्त केवल एक निज चैतन्यस्वरूप की दृष्टि करें और प्रसन्न हों । परमेश्वर की यह परम आज्ञा है । उसकी प्रभावना करने के लिए यह पंचास्तिसंग्रह सूत्र बताया गया है । मार्ग की प्रभावना अर्थात् जिनेन्द्रदेव ने ऐसा हुक्म दिया है, उनका शासन घोषित क्या है उसकी प्रभावना करना हो तो उसका यह ही तरीका है कि खुद ज्ञानी बनकर अपनी ही प्रमाणिक विशुद्ध परिणति बनाकर ख्यापन करें कि भगवान की जिन-आज्ञा यह है अथवा यथाशक्ति जिन-आज्ञा का पालन करते हुए वस्तु के स्वरूप को बताते रहना यह भी मार्ग की प्रभावना है । सन्मार्ग की प्रभावना के लिए ही यह पंचास्तिसंग्रह सूत्र बनाया गया है । इस ग्रन्थ का नाम तो पंचास्तिकाय संग्रह है, पर विश्लेषण दिया गया प्रवचनसार अर्थात् समस्त वस्तु के तत्त्वों का सूचक होने से प्रवचन तो बहुत विस्तृत होता है, पर समागम द्वादशांगरूप है, किन्तु उसका यह सारभूत है ।

प्रवचन के सार की आवश्यकता का कारण—जैसे बहुत-बहुत बातें होने के बाद सुननेवाला कहता है कि अब समय थोड़ा है, इसके निचोड़ की बात बताइए । तत्त्व क्या है, क्या करना है? अब, हमें इस प्रकार परमागम तो बहुत विस्मृत है, पर हे प्रभो! जीवन थोड़ा है हमें तो सार की बात बताओ कि तत्त्व क्या है और हमें करना क्या है? जीवन की बात देखो तो मानो ८० वर्ष की उम्र हो तो बहुतसा हिस्सा. तो बचपन में निकल जाता है और आधा हिस्सा तो वैसे ही सोने में यों निकल जाता है । अन्त का बुढ़ापे का हिस्सा व जवानी में बनाये गए संस्कारों के अनुसार चलता है । यदि जवानी में धर्मसाधन न किया, अज्ञानभाव से रहे तो बुढ़ापे में भी वह अज्ञान वासना और बढ़कर चलेगी । जवानी में धन की तृष्णा में समय बिताया तो बुढ़ापे में यह तृष्णा कई गुनी बढ़ जाती है । जिसने अपनी यौवन अवस्था को ज्ञान और धर्म की साधना के लिये, सन्तोष के लिये महत्त्व दिया उसके बुढ़ापे में ज्ञान और धर्म की साधना भी बढ़ जाती है । तो बुढ़ापे में स्वतंत्रतया कुछ बात नहीं बनती । जो इसने जवानी में भाव बनाया बस उसका फल बुढ़ापे में मिलता है । अब सोच लीजिए हमें धर्म कर्म करने का एक कितना-सा मौका मिलता है?

कर्तव्य के शीघ्र कर्तव्य को प्रेरणा के लिये एक किंबदन्ती का दृष्टान्त—एक किम्बदन्ती है कि ब्रह्मा ने ४ जीव बनाए—मनुष्य, गधा, कुत्ता और उल्लू और सबको जिन्दगी मिली ४०-४० वर्ष की । सबसे पहिले उल्लू से कहा—जावो तुम्हें पैदा किया ।....महाराज हमारा काम क्या होगा?....अंधे बने बैठे रहना, कुछ मिल जाय तो खा लेना ।....महाराज उम्र कितनी? ....४० वर्ष । ....महाराज उम्र कम कर दीजिए । अच्छा बीस वर्ष की उम्र कर दी । सो २० वर्ष काटकर तिजोरी में रख लिया और २० वर्ष दें दिया । कुत्ते से कहा—जावो तुम्हें पैदा किया ।....महाराज काम?....जो तुम्हें टुकड़े दे उसकी भक्ति करना, पूंछ हिलाना । ...महाराज उस ४० वर्ष ।....उम्र कम

कर दीजिए ।. .अच्छा २० वर्ष काटकर २० वर्ष की रक्खी । गधे से कहा—जावो तुम्हें पैदा किया । ....महाराज काम ?....दूसरों का बोझ ढोना और जो सूखा-रूखा भुस मिल जाय उसे खा लेना....महाराज उम्र ? ४० वर्ष । ....उम्र कम कर दीजिए । ....अच्छा २° वर्ष काटकर २° वर्ष रख दिये । मनुष्य से कहा—जावो तुम्हें पैदा किया ।.. .महाराज मेरा काम ?....खूब खेलना, खाना, सब पर हुक्म चलाना और परिवार का सुख लूटना । ....महाराज उम्र ? ४० वर्ष ।....उम्र कम है महाराज, उम्र और दीजिए ।. .बस, ४० वर्ष ही रहने दीजिए ।.. .नहीं महाराज, और बढ़ा दीजिए ।.. .अच्छा देखता हूँ, यदि तिजोरी में बची रखी होगी तो और बढ़ा देंगे । देखा तो वह तीनों की कटी हुई ६० वर्ष की उम्र बनी रखी थी । सो वह ६० वर्ष की उम्र भी मनुष्य को दे दी । अब हो गयी १०० वर्ष की उम्र । सो देखो—जब मनुष्य पैदा होता है तो ४० वर्ष तो उसके ईमानदारी के होते हैं, सो ४० वर्ष तो बड़े अच्छे कटे । चिन्ता करे तो पिता । नया सम्बंध हो, नये पुत्र पैदा हो, बहुत मौज माना । इसके बाद लगी फिर वह गधा की २० वर्ष की उम्र । इसमें केवल एक रहस्य लेना है । वहाँ गधे कुत्ते से और कुछ मतलब नहीं है । जब गृहस्थी का बहुत बोझ हो गया तो लादना पड़ा, कमाना पड़ा, अब चैन नहीं मिलती । जब जहाँ भोजन मिला, खा लिया, भाग-दौड़ मच रही । ६० वर्ष के बाद फिर हुई कुत्ते की कटी हुई २० वर्ष की बाकी उस । ६० वर्ष के बाद चार-छ: लड़के हो गए । जिस लड़के ने ज्यादा प्रेम से रक्खा उसके गीत गाने लगा, उसकी प्रीति बनने लगी । फिर ८० वर्ष के बाद उल्लू की कटी हुई उम्र मिली । तो आँखों नहीं दिखता, चलते नहीं बनता, जिसने जैसा खिला दिया, खा लिया । यह स्थिति बनती है । इसमें सार की बात कहने की यह है कि जब तक बल है, जब तक बुढ़ापा नहीं आया, जब तक आसक्ति नहीं आयी तब तक ज्ञान और धर्म के लिए जितना भी यत्न बन सके कर लेना चाहिए ।

वर्णनसमाप्ति और विश्रान्ति—इस ग्रन्थ में प्रवचन का सारभूत वर्णन चल रहा है । प्रवचन तो अतिविस्तार में है वह है द्वादशाङ्गमय परमागम । उसके सार में ७ तत्त्व और ९पदार्थों का निश्चय और व्यवहार की पद्धति से यहाँ वर्णन किया, जिससे इस आत्मा को यह प्रेरणा मिली कि समग्र वस्तुएँ अत्यन्त भिन्न हैं, मेरा समग्र परवस्तुवों में अत्यन्ताभाव है ।किसी से मुझ में कोई परिणति नहीं आती । किसी अन्य समागम से कोई हित अथवा सुख नहीं है । मेरा सब कुछ मैं हूँ । मेरा स्वरूप ही स्वयं सहज ज्ञान और आनन्दमय है । अपने इस स्वरूप को देखते रहने की दृष्टि मिले, यह प्रकाश इसके इस परमागम से पाया तो परमागम में विशेष भक्ति उत्पन्न हुई । जो हित की बात बनाये, जो हित में लगाये उसमें भक्ति विशेष जगती है तो उस प्रवचन भक्ति से प्रेरित होकर यह पंचास्तिकायसंग्रह ग्रंथ बनाया गया है । लो मेरे द्वारा यह कहा गया । ऐसी समाप्ति की बात यहाँ कही है । जैसे कोई बड़ा काम कर चुकने पर एक विश्रांति मिलती है । शास्त्रकार ने यह भी सूचित कर दिया कि जो इस तरह किया हुआ काम है उसकी जब पूर्ति हो जाती है, अन्त हो जाता है तो कृतकृत्य होकर परमनैष्कर्षरूप जो आत्मा का शुद्ध स्वरूप है उसमें विश्रान्ति होती है, यों ये शास्त्रकार भी विश्रांत हो गए ।

महापुरुषों की निरहङ्कारता—इस ग्रन्थ की आत्मख्याति टीका पूज्य श्री अमृतचन्द्रसूरि ने की है । वे टीका की समाप्ति करने पर अपने भाव प्रदर्शित यों कर रहे हैं कि मैंने क्या किया? यह व्याख्या जो की गई है वह मेरे द्वारा

नहीं की गई है । जो शब्द अपनी ही शक्ति से वस्तु के तत्त्व की सूचना करते हैं उन शब्दों के द्वारा यह ग्रन्थ बना, यह व्याख्या बनी । यह मैं तो स्वयं गुप्त एक परमार्थदृष्टि से देखा गया ज्ञानस्वरूप आत्मा स्वयं गुप्त हूँ । इस स्वरूप गुप्त मुझ आत्मा का क्या कर्तव्य है? बाहर में कुछ भी नही है । इस प्रकार अपने निरहंकारता का प्रदर्शन करते हुए ग्रन्थकार ने ग्रन्थ की समाप्ति की सूचना दी है ।

ग्रन्थ से सारभूत शिक्षण—हम इस ग्रन्थ के अध्ययन से यह शिक्षा लें कि हम अन्तर्वृत्ति ऐसी बनाये कि हम जिस किसी भी वस्तु को निरखें तो उसका स्वरूप स्वातंत्र्य हमारी निरख में रहे । प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने स्वरूप से सत् है । मेरे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में ही मेरा सत्त्व है, अन्यत्र मेरा कहीं कुछ नहीं है । न कोई मित्र, न कोई शत्रु, न कोई वैभव, न यह देह और की बात तो जाने दो, मेरे में जो कल्पनाएँ उठती हैं, रागवृत्तियाँ जगती हैं, विकारभाव बनता हुँ ये भी मेरे नहीं हैं । मैं तो शाश्वत एक चैतन्यस्वरूपमात्र हूँ । उस शाश्वत परमार्थ निज तत्त्व की हमारी दृष्टि अधिकाधिक रहे । बाह्यपदार्थों में दृष्टि न फंसे, इसका महत्व हम समझे, ऐसी श्रद्धा, ऐसी वृत्ति हमारी बने तो हम प्रभु के वास्तव में भक्त हैं । भगवान की पूजा, भक्ति, उनके उपदेश को सुनकर क्या करना है? सही मायने में भक्ति तभी कह सकते हैं जब संसार, शरीर और भोगों से वैराग्य प्रकट हो और हमें निज शाश्वत स्वरूप की दृष्टि की उमंग जगे ।

मोक्षमार्गी शिष्य का निरूपण—यह पंचास्तिकाय संग्रह नाम का ग्रंथ है । इसकी समाप्ति पर कुछ थोड़ा इस विषय पर ध्यान देना है कि कुन्दकुन्ददेव ने यह ग्रंथ शिष्यों के सम्बोधन के लिए बनाया है । शिष्य किसे कहते हैं? जो शिक्षा ग्रहण करे उसे शिष्य कहते हैं । शिक्षा योग्य पुरुष कौन होता है? उस शिष्य की कब-कब क्या स्थिति बनती है? उस शिष्य के स्वरूप विवरण के लिए जो परमतत्त्व के आराधक पुरुष हैं उनकी अब परिस्थितियां बतायी जा रही हैं । पुरुष कैसे दीक्षा लेते हैं, कैसे शिक्षा ग्रहण करते हैं और कैसी व्यवस्था से रहते है—ये सब बातें काल भेद कर के समझनी चाहिएँ । शिष्य के ६ काल होते हैं । काल कहो, परिस्थिति कहो, जिस समय में जो परिस्थिति हो उस परिस्थिति को यहाँ काल कहा गया है । एक दीक्षा का काल, दूसरा शिक्षा काल, तीसरा गणपोषणकाल, चौथा—आत्मसंस्कार, ५वां सल्लेखना और छठा उत्तमार्थकाल । एक उन्नति का चाहने वाला पुरुष कैसे-कैसे भावों से बढ़ते हुए उन्नति की चरम सीमा प्राप्त कर लेता है? यह वर्णन इन छहों कालों में है ।

दीक्षाकाल—प्रथम तो कोई आसन्नभव्य जिसका होनहार निकट काल में ही भला होने को है भेदरत्नत्रय और अभेदरत्नत्रय से युक्त किसी आचार्य के समीप जाता है अर्थात् जो यथार्थ तत्त्व का श्रद्धानी है, यथार्थ तत्त्व का ज्ञानी है और यथार्थ आत्मा का जिसके आचरण है, जो संसार, शरीर, भोगों से विरक्त है, जिसे किसी परवस्तु से कुछ प्रयोजन नहीं रहा, ऐसे आचार्य के समीप जाता है । वहां जाकर अपने आत्मतत्त्व की आराधना के लिए समस्त बाह्य आभ्यंतर परिग्रहों को त्याग देता है, जिनदीक्षा ग्रहण करता है वह तो है इसका दीक्षाकाल । जिस समय से मोक्षमार्ग में इसका प्रयत्न विशेष चलने लगे वह प्रारम्भिक काल है और वह दीक्षा से पहिले शुरू नहीं होता । आत्मतत्त्व की आराधना करने वाले शिष्य कैसे हुआ करते हैं, इस सम्बन्ध में इस काल में वर्णन है ।

शिक्षा काल—इसके पश्चात् आता है शिक्षा काल । बहुत से लोग यों सोच सकते हैं कि ठीक तो यह जंचता

है किं पहिले शिक्षा ग्रहण की जाय, फिर दीक्षा ली जाय । यहाँ क्रम में बता रहे हें कि पहिले दीक्षा होती है, फिर दीक्षा चलती है । यह कैसा श्रम है? इसके समाधान में इतना ही समझिये कि किसी भी प्रकार की शिक्षा का आरम्भ होने से पहिले दीक्षा नियम से सबकी हो ही जाती है । उस दीक्षा से जो कि इसमें बताया है मुनि दीक्षा ले उससे पहले जिस शिक्षा की जरूरत है उस शिक्षा की बात नहीं कह रहे हैं । उस शिक्षा के लिए उस योग्य दीक्षा ली जाती है । बच्चों को देखा होगा जब उन्हें अ इ उ शुरू करते हैं तो विद्या आरम्भ की दीक्षा दिलाई जाती है । दीक्षा का अर्थ इस समय साधुपने से न लें, किन्तु जिस विषय का कार्यं कराना है उस विषय का संकल्प कराना, लोगों को हो जाता है—यह दीक्षा है । किसी भी प्रकार की शिक्षा हो वह दीक्षा पूर्वक हुआ करती है । पहिले समय में यह विशेष परिपाटी थी और कुछ-कुछ आज भी होगी, शुरू-शुरू के दिन प्रारम्भिक दिनों में जब बच्चों को अ इ उ सिखाने में लिए पाठशाला में भेजते हैं तो साथ ही कुछ मिठाई बताशे आदि चीजें साथ ले जायीं जाती हैं कुछ बच्चों को बाँटने के लिए । वह अ इ उ की शिक्षा की दीक्षा है और उस दिन से यह प्रकट हो गया कि अब यह बालक रोज-रोज पढ़ने लगेगा । इस तरह सभी प्रकार को शिक्षाओं में किसी न किसी रूप में आप दीक्षा पायेंगे।

दीक्षापूर्वक शिक्षा—जिस शिष्य को एक ऐसी शिक्षा दिलाते हैं जो मोक्षमार्ग में ही बढ़ाये और ज्ञान की बात सिखाये ऐसी उत्कृष्ट शिक्षा के लिए क्या तैयारी करनी चाहिए शिष्य को, उस तैयारी का नाम यह मुनिदीक्षा है । दीक्षा के बाद निश्चयरत्नत्रय, व्यवहाररत्नत्रय और परमात्मतत्त्व के परिज्ञान के लिए विशुद्ध तत्त्व का प्रतिपादन करने वाले अध्यात्मशास्त्र में जब यह शिक्षा को ग्रहण करता है तो वह है शिक्षा काल । इस में मोक्षमार्ग की विद्या बताते हैं तो उसके अनुरूप ही ये ६ काल कहे जाते हैं ।

गणपोषणकाल—शिक्षा के बाद गणपोषणकाल होता है, केवल दीक्षा और शिक्षा से काम नहीं चला । अपने साथ में रहने वाले मित्रजन, इस ही मोक्षमार्ग की शिक्षा दीक्षा में लगे हुए सधर्मीजन, उनमें चर्चा करना, परमात्मतत्त्व के बताने की बात करना यही हुआ गणपोषणकाल । जैसे थोड़ी देर को इस ओर ध्यान दें जब यहाँ लोगों ने जीवस्थान चर्चा पढ़ी थी, कोई दिन मुकर्रर किया था ना कि इस दिन से यह प्रारम्भ होगा और उस दिन लोग संकल्प लेकर के आये अब से यह कक्षा चलेगी लघुजीवस्थानचर्चा की और उस तैयारी के साथ बैठे हुए थे कि नाम लिखाये, संकल्प हुआ, अध्ययन करेंगे, यह अध्ययन करेंगे, यह हुई उस कक्षा की दीक्षा और उसके बाद फिर शिक्षा चली, लोगों ने पढ़ा, पर केवल इतना पढ़ने मात्र से काम नहीं निकला तो किसी समय या अन्य समय या रात्रि के समय थोड़ा उसे दुहराने लगे, बताने लगे, वह हुआ गणपोषणकाल । दृष्टान्त में जिन्हें शिक्षा द्वारा मोक्षमार्ग में स्थित कराया अथवा उसकी चाह करने वाले भव्य पुरुषों को उस परमतत्त्व के बताने से उनके आत्मा का पोषण करना है वह है यही गणपोषणकाल । लौकिक विद्या में और मोक्षमार्ग की विद्या में कुछ अन्तर है लौकिक विद्या पढ़ने के बाद दृष्टि बाहर रहने का ही काम है करीब-करीब । पर मोक्षमार्ग की विद्या को पढ़ें और उसे अपने ऊपर घटायें तो उसका विशद ज्ञान होता है ।

आत्मसंस्कारकाल—गणपोषण तो हुआ अर्थात् ज्ञानवृद्धि का आदान-प्रदान, पर इतने से काम नहीं निकला मोक्षमार्ग में, तो उसके बाद जो निज परमात्मतत्त्व है उसमें शुद्ध संस्कार बनाने का यत्न होता है । गण को छोड़कर

अर्थात् फिर अपने सधर्मीजनों पर भी दृष्टि न रखकर केवल निज शुद्ध आत्मस्वरूप में संस्कार बनाना वह है आत्मसंस्कारकाल । अब यहाँ कुछ ऐसी दृष्टि से सुनते जाइये कि दीक्षा बिना काम नहीं चला, शिक्षा बिना भी नहीं चला, गणपोषण भी आवश्यक हुआ और अब गण को त्यागकर, अपने उन सहयोगी संतजनों के ख्याल को छोड़कर एक निज परमात्मतत्त्व में, निजस्वरूप में मग्न होने का यत्न करना, उसकी दृष्टि का अभ्यास बनाना यह हुआ आत्मसंस्कारकाल । यहाँ तक बात बनी ।

सल्लेखनाकाल—आत्मसंस्कार काल के बाद उस आत्मसंस्कार को स्थिर बनाने के लिए जो क्षण-क्षण में उठ रहे रागादिक विकल्प हैं उनका सल्लेखन करना होगा । एक बार ज्ञान प्राप्त होने पर भी और आत्मसंस्कार में लग जाने पर भी काम अभी राग के खतम करने का पड़ा हुआ ही है । तो रागादिक भावों से रहित अनन्त ज्ञानादिक गुणसम्पन्न परमात्म पदार्थ में स्थित होकर रागादिक विकल्पों का सल्लेखन करना इसका नाम है सल्लेखना काल । कषायों की सल्लेखना की, इस तरह शिष्य की ये ५ परिस्थिति बताई ।

उत्तमार्थ काल—सल्लेखनाकाल के बाद शुद्ध ज्ञान चारित्र और तप की प्रयोगात्मक उत्कृष्ट आराधना होनी चाहिए, क्योंकि सब कुछ करने का प्रयोजन यही था । दीक्षा लेने का क्या प्रयोजन था? यह कोई सिद्धि का रूप है? शिक्षा लेना, अभ्यास लेना, प्रयत्न करना यह कोई सिद्धि का रूप है? सिद्धि का रूप तो आराधना है और ऐसी आराधना, जिस आराधना के फल में मुक्ति अवश्यंभावी है ऐसी विशुद्ध पद्धति से दर्शन, ज्ञान और चारित्र की उपासना करना यही है उत्तमार्थकाल । जो उत्तम अर्थ है, आत्मा का जो उत्कृष्ट प्रयोजन है उस प्रयोजन की सिद्धि करना । यह आत्मा शुद्ध ज्ञान दर्शनस्वभावी है । जैसे किसी चीज की परीक्षा करना है तो उसमें यह निर्णय करना कि यह बना कैसे? इसका स्वरूप क्या है? इसमें चीज क्या-क्या है? ऐसा आत्मा में सोचिये—प्रत्येक प्राणी मैं-मैं का प्रत्यय कर रहा है । मैं हूँ, मैं हूँ जिसमें अहं भावना उठ रही है वह मैं किमात्मक हूं? अपने-अपने अंतरङ्ग में उसकी खोज कीजियेगा । मैं आत्मा क्या हूँ, कैसा हूं? अत: झुकाव करने से ही इसका समाधान मिलता है । बाहरी समस्त वस्तुवों को भूल जाने पर जो एक सहज विश्राम मिलता है, उसमें इसका समाधान मिलेगा । वह समाधान मिलेगा मैं एक ज्ञाताद्रष्टा स्वभाव वाला हूँ । इस मुझ आत्मा का काम है और क्या? मात्र जानन देखन । तो विशुद्ध ज्ञानदर्शनस्वभाव वाले अपने आत्मद्रव्य का सही श्रद्धान होना, ज्ञान होना और इस ही स्वरूप में रम जाना, समस्त बाह्यद्रव्यों की इच्छा का विघात कर जाना, यही है दर्शन आराधन, ज्ञान आराधन, चारित्र आराधन और तप आराधन । ऐसी उत्कृष्ट आराधना होना याने अपने स्वरूप के कुछ सन्निकट होना जिस परिस्थिति के बाद में भव से मोक्ष हो जाय वह है उत्तमार्थ काल ।

षट्कालों का योग्यतानुसार नियमन—जो परम शिष्य है, निकटभव्य है, तद्भव मोक्षगामी है, उसके जीवन में ये ६ परिस्थितियाँ आती हैं, किन्तु केवल यह पूर्ण नियम नहीं बनाना कि क्रम से ये ६ काल सबके आते ही हैं तब मोक्ष होता है यह भी प्राय: नियम है । जैसे प्राय, यह नियम है कि कोई मुनि बने और फिर इस तरह आहार को निकले, इस तरह चले उठे, आदान निक्षेपण समिति, प्रतिष्ठापनासमिति, इस प्रकार बोलें, इस प्रकार आहार ग्रहण करें, ५ समितियों का यों पालन करें, तपश्चरण करें, ध्यान करें, उसके कर्मों की निर्जरा होती है और उसका

मोक्ष होगा । कोई यों पूछे—क्योंजी बाहुबलि स्वामी का फिर क्यों मोक्ष हो गया? उन्होंने न एषणासमिति पाली, न आदाननिक्षेपणसमिति पाली । उन्होंने दीक्षा ली वहीं खड़े रहे एक वर्ष तक । पश्चात् उन्हें मोक्ष हो गया । तो ये सब क्रियायें एक मार्ग की हैं । कितनी अनेक बातों से धर्म का प्रयोग करें और मोक्ष हो जाय, पर यह न होगा कि बहुत काल रहें और बिना व्यवहार प्रयोग के वह अपनी साधना बना सके । ये ६ प्रकार के काल कहे गये हैं । इनमें कोई दीक्षा लेने के बाद ही उत्तमार्थकाल प्राप्त कर ले, न शिक्षा ले, न गणपोषण करे, जैसे भरत चक्रवर्ती दीक्षा लेने के बाद ही उन्हें केवलज्ञान हो गया, पर यह एक प्राय: करके जैसा नियम न होना चाहिए वह बताया गया है । किसी का भाग्य प्रबल हो, आंखों से न दिखता हो और उसे ठोकर लग आय और ठोकर लगने से, पत्थर निकालने से धन मिल जाय तो ऐसा सब व्यापारी तो न करने लगेंगे कि अंधे बन जायें, आंखों में पट्टी बाँध ले और लाठी लेकर अंधे की तरह चले, कोई पत्थर पहिले से देख ले, इसमें हम अपने पैर की ठोकर मारेंगे और फिर खोदेंगे और धन निकलेगा, तो यों तो धन नहीं निकलता । ऐसा हो गया किसी को । तो ऐसे ही जिसकी योग्यता विशेष है वह दीक्षाकाल के बाद ही उत्तमार्थकाल प्राप्त कर सकेगा । कोई शिक्षा गणपोषण के बाद कर ले पर नियम ऐसा ही है, किन्तु जो अपनी साधना लम्बी बनाये तो उसके जीवन में ये ६ प्रकार की परिस्थितियां आती हैं ।

प्रारब्धयोगी और निष्पन्नयोगी की योग्यता—इससे तात्पर्य यह समझना कि ध्याता २ प्रकार के होते हैं—एक प्रारब्धयोगी, एक निष्पन्नयोगी । जो शुद्ध आत्मतत्त्व की भावना प्रारम्भ करते हैं उनके सूक्ष्म विकल्प चलते रहते हैं और वे अपनी ध्यानसाधना से उन विकल्पों से निवृत्त होने का यत्न कर रहें हैं वे सब प्रारब्धयोगी हैं । और जब ही वे निर्विकल्प शुद्धआत्मतत्त्व की अवस्था में पहुंचते हैं, निर्विकल्प समाधिभाव में आते हैं तो वे निष्पन्नयोगी कहलाते हैं । तो जो आरब्ध योगी हैं उनकी इस प्रकार ६ परिस्थितियां होती हैं और फिर वे निष्पन्न योगी बनकर उत्कृष्ट सम्वर और निर्जरा करते हैं । जब आत्महित में लगने से आत्महित में ये शिष्यजन जुटते हैं तो पहिली स्थिति उत्कृष्ट स्वाधीन आत्मीय आनन्द के अनुभव की स्थिति बनती है । मोक्षमार्ग आनन्द से तो प्रारम्भ होता है और आनन्द में ही समाप्त होता है । मोक्षमार्ग न कष्ट से प्रारम्भ होता है और न कष्ट से समाप्त होता है । जिसे मोक्षमार्ग मोक्ष की योग्यता, मोक्ष का पात्र यह सब कुछ यथार्थ ध्यान में जंचा है वही पुरुष अपने उपयोग का प्रयोग अपने शुद्ध स्वरूप पर करता है और आनन्द का अनुभव किया करता है । उस आनंद में जैसे-जैसे वृद्धि होती है वैसे ही वैसे ध्यान की साधना बढ़ती है । फिर निर्विकल्प स्वसम्वेदन ज्ञान की प्राप्ति होती है और उसकी वृद्धि होती है । फिर उसके जीवन में ऋद्धियाँ उत्पन्न होती हैं, ऋद्धियों की वृद्धि होती है । उन्हें स्वयं यह विदित नहीं रहता कि मुझे अमुक सिद्धि हुई है, पर आत्मविकास की पद्धति ही ऐसी है कि वे सब समृद्धियाँ होती रहती हैं।

आनन्द में धर्म का प्रारम्भ व धर्म की परिपूर्णता—यह शिवार्थी अन्त में इस विशुद्ध ध्यान के फल में शाश्वत असीम आनन्द की प्राप्ति कर लेता है । यह मोक्षमार्ग का कदम आनन्द से ही तो शुरू होता और आनन्द में ही समास होता है । जो मनुष्य ऐसा सोचते हैं कि मुझे धर्म करते हुए बहुत दिन हो गए, कोई आनन्द नहीं मिला, दरिद्रता ज्यों की त्यों रही और विपदायें भी आती रहीं, यह क्या मामला है? मामला क्या है? मामला यही है कि उसने

धर्म किया नहीं । धर्म आनन्द से शुरू होता है और धर्म की परिपूर्णता आनन्द में हुआ करती है । अपने निर्विकल्प ज्ञान दर्शनस्वभावी आत्मा का स्पर्श करना, यही है धर्म । यह धर्म आनन्दभाव को लिए हुए ही रहता है ।

षट्कालों का व्यावहारिक निरूपण—ये ६ काल आते हैं, उनसे यह हमें ज्ञान होता हे कि जो मोक्षमार्ग में उत्कृष्ट शिष्य है उसको किस-किस प्रकार से चलना चाहिए? मोटे रूप में व्यवहार चरण के रूप में, आगम की भाषा में उन्हें यों समझ लीजिये कि कोई भी पुरुष निर्दोष पंचाचार का आचरण करने वाले आचार्य के पास पहुंचकर परिग्रहरहित होता है वह तो दीक्षा हे । दीक्षा के बाद में जो प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग, द्रव्यानुयोग—चार प्रकार के ग्रन्थों का अध्ययन करता है वह है शिक्षा काल और शिक्षा काल के बाद इन अनुयोगों के व्याख्यान से जो शिष्य समूह का पोषण करते हैं उनके आत्मा में उत्साह और मोक्षमार्ग की दिशा दिखती है । इस स्थिति का नाम है गणपोषणकाल । गणपोषण होता है भावना से । तपश्चरण की भावना होना, विषयकषायों के विजय की भावना होना, आगम के अभ्यास की भावना होना, इन सब भावनाओं से आत्मा का संस्कार बनाया जाता है । उस आत्मसंस्कार के पश्चात् अर्थात् ऐसी जिन्दगी भर साधना की, उसके बाद अन्त में जब मरण निकट होता है, शरीर शिथिल हो जाता है तो वे शरीर को बलिष्ट बनाने का यत्न नहीं रखते, किन्तु आहार आदिक का त्याग रखते हैं । वह सल्लेखना है और पश्चात् समाधिभाव से देह का विसर्जन करना सो उत्तमार्थकाल है । इस तरह अपने को यों ज्ञान के पोषण में लगाने वाले शिष्य निर्वाण के निकट पहुंचते हैं ।

आत्मकर्तव्य—इस समग्र परिभाषण में हम आपको यह ध्यान में लाना है कि ये समागम ही सब कुछ नहीं हैं, ये तो भिन्न ही हैं । हमें अपने आत्मा में ज्ञानसंस्कार बनाना है कि अधिक समय दृष्टि हमारी ज्ञानस्वभाव पर रहे और उस दृष्टि के प्रसाद से हम आकुलतावों से दूर रहें और अपने आनन्दस्वरूप का अनुभवन करते रहें । भैया! यह अतीव दुर्लभ धर्मसमागम पाया है, ज्ञानावरण का भी विशेष क्षयोपशम पाया है । इस समस्त धर्म सामग्री का सदुपयोग कीजिये । श्रद्धावान होकर ज्ञान का अर्जन करके निज ज्ञानस्वरूप में मग्न होने का यत्न कीजिये । इस ही पुरुषार्थ से अपना यह समय सफल होगा ।

।। इति पञ्चास्तिकाय प्रवचन षष्ठ भाग समाप्त ।।

पूज्य श्री गुरुवर्य्य मनोहर जी वर्णी ''सहजानन्द'' महाराज द्वारा रचित ''पञ्चास्तिकाय प्रवचन'' का यह षष्ठ भाग सम्पन्न हुआ ।